# जैन भारती

अप्रैल, 2007 • वर्ष 55 • अंक 4 • वार्षिक रु. 200.00

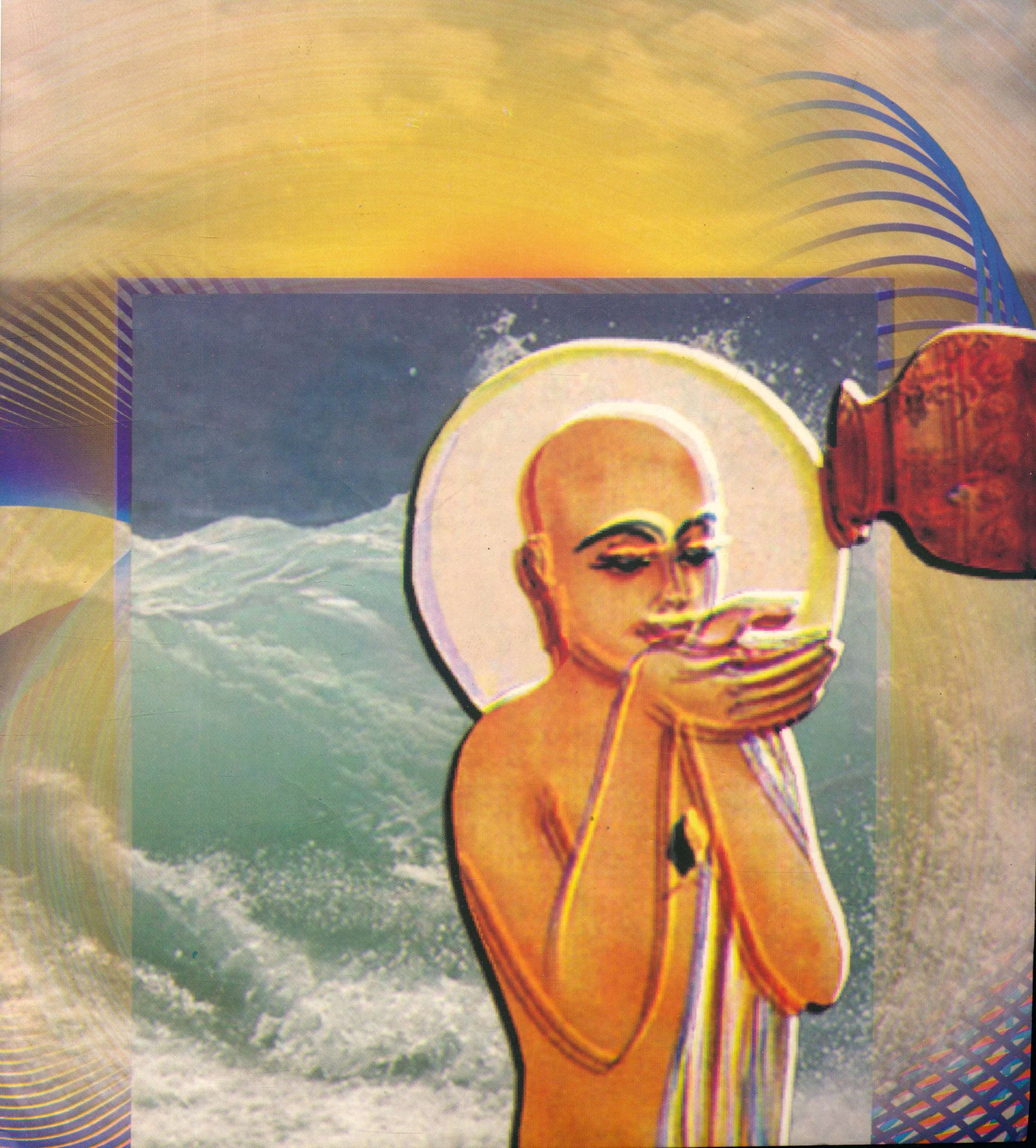

हार्दिक मंगल कामना

# एक शुभ चिन्तक

**शुभू पटवा**
मानद संपादक
•
**बच्छराज दूगड़**
मानद सह-संपादक

# जैन भारती

वर्ष 55 • अप्रैल 2007 • अंक 4

## विमर्श

11
*एम. हिरियन्ना*
**प्राचीन भारतीय धर्म : पूर्ववर्ती अवस्थाएं**

15
*सोहनराज तातेड़*
**परीषहजय, उपसर्गजय और सल्लेखना**

20
*साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा*
**कर्म और पुरुषार्थ : सापेक्ष दृष्टि**

•
*आवरण*
**अडिग**

## अनुभूति

25
*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*
**समाज-व्यवस्था और ऋषभ**

31
*साध्वी दर्शनविभा*
**उपचार : दवा और दुआ से**

33
कहानी
*नवनीता देवसेन*
**स्वप्न का मुक्तिदल और कालीपद**

38
कविता
**भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं**

## प्रसंग

7
*शुभू पटवा*
**आरोग्य का अभिप्राय**

## शीलन

43
*साध्वी लक्ष्मीकुमारी*
**ऊर्जा, प्राण-शक्ति और उपचार-विधि**

46
*मुनि धर्मेशकुमार*
**स्वास्थ्य और ब्रह्मचर्य**

48
बालकथा
*प्रदीप पंत*
**मन का अंधकार**

## रपट

51
*भवानी सोलंकी*
**143वां मर्यादा महोत्सव**

**संपादकीय पता :** संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
**प्रकाशकीय कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
**प्रधान कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
**सदस्यता शुल्क :** वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

## मुनि वस्त्र कैसे रख सकता है?

ढूंढ़ाड़ प्रदेश में स्वामी भीखणजी के पास कुछ सरावगी चर्चा करने के लिए आए और बोले—'मुनि धागे जितना भी वस्त्र नहीं रख सकता। जो रखते हैं, वे परीषह से दूर भागते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'परीषह कितने हैं?'

तब वे बोले—'परीषह बाईस।'

तब स्वामीजी बोले—'पहला परीषह कौन-सा है?'

तब वे बोले—'पहला परीषह भूख का है।'

स्वामीजी ने पूछा—'तुम्हारे मुनि आहार करते हैं या नहीं?'

तब वे बोले—'दो दिन से एक बार करते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम्हारे मुनि तुम्हारे ही हिसाब से दूसरे परीषह से भी पराजित हो गए।'

तब वे बोले—'वे प्यास लगने पर पानी पीते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'हम भी सर्दी आदि से बचने के लिए वस्त्र ओढ़ते हैं। और यदि भूख लगने पर अन्न, प्यास लगने पर पानी पीने से वे परीषह से पराजित नहीं होते हैं, तो ठंड आदि से बचने के लिए वस्त्र रखने पर भी हम परीषह से पराजित नहीं होते।'

इत्यादि अनेकविध चर्चा से वे निरुत्तर हो गए।

फिर दूसरे दिन वे बहुत इकट्ठे होकर आए। स्वामीजी शौचार्थ जंगल जा रहे थे। वे सामने मिले। टेढ़े होकर बोले—'हम तो चर्चा करने आए और आप शौच के लिए बाहर जा रहे हैं?'

उनके चेहरों की भाव-भंगिमा देखकर स्वामीजी बोले—'आज तो तुम लड़ने की दृष्टि से आए लगते हो।'

तब वे बोले—'आपको इस बात की कैसे खबर पड़ी?'

स्वामीजी बोले—'हममें अवधि आदि अतींद्रिय ज्ञान तो नहीं है, फिर भी तुम्हारे चेहरे की भाव-भंगिमा देखकर हमने कहा।'

तब वे सच बोले—'हम आए तो लड़ने की दृष्टि से ही थे, दान-दया की चर्चा करनी थी।'

तब स्वामीजी बोले—'दान-दया के उत्तर तो बहुत लिखे पड़े हैं। चर्चा तो कल वाली ही कड़ी थी।'

बाद में उनमें कुछ लोग चर्चा कर स्वामीजी की शरण में आ गए। •

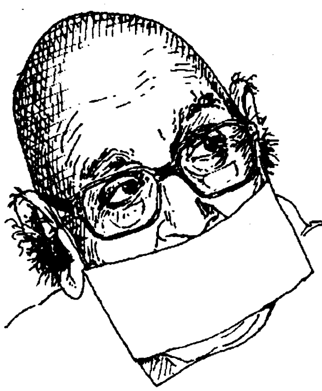

मैं अहिंसा के क्षेत्र को सीमित नहीं मानता। वह सार्वदिक् और सार्वत्रिक होता है। इसलिए उसका प्रभाव व्यक्ति तक ही मान लेना हमारी भारी भूल होगी। वैसे एक-एक व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन ही समाज-परिवर्तन का आधार बनता है। सचाई यह है कि वही परिवर्तन अधिक स्थाई और अधिक लाभदाई होता है।

प्रश्न तब जटिल हो जाता है जब समाज का कोई व्यक्ति या वर्ग-विशेष व्यवस्था को ताक में रख कर अपने स्वार्थों को ही प्रमुखता देने लग जाता है। वह सचाई को न परखता हो, ऐसी बात नहीं है। किंतु, वह अपने स्वार्थों के लिए इतना अंधा हो जाता है कि समाज की समस्त व्यवस्थाओं की अवहेलना करने लग जाता है। ऐसी सूरत में समाज-व्यवस्था के लिए किसी बल या शक्ति के सहारे को भी इनकार कर नहीं चला जा सकता। जहां व्यक्ति सहृदय हो, वहां हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत काम कर सकता है। हृदयहीनता और पशुता की स्थिति में तो बल या शक्ति ही कारगर हो सकती है।

—आचार्यश्री तुलसी

मौन वह है जिसमें न संकेत है, न इशारा है और न ही हुंकार है। ऐसा मौन यदि एक घंटे भी किया जाता है तो वह बहुत मूल्यवान है। यदि ऐसा मौन नहीं होता है तो वह मात्र एक ढर्रा या रूढ़ि-मात्र है। उस मौन में हमने भाषा-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण नहीं किया, उन्हें विश्राम दे दिया। उन पर यह कृपा की, पर अपने पर अनुकंपा नहीं की। हम भाषा-वर्गणा के पुद्गलों पर भी पूरी अनुकंपा नहीं कर पाते। जो-कुछ मौन में चल रहा होता है, उसमें भाषा का भी योग होता है। स्वर यंत्र के शिथिलीकरण की प्रक्रिया को समझ कर मौन करें तो मौन का आनंद आएगा। मैं इस बात पर बल देता हूं कि एक घंटे का मौन भी हो तो ऐसा हो कि उसका प्रभाव पूरे दिन अनुभूत हो। इसका तात्पर्य है कि शेष तेईस घंटों में न कटु वचन का प्रयोग हो, न अप्रिय वचन का प्रयोग, न अपमान और सताने वाली भाषा का प्रयोग। दिन-भर शांत भाव से बोलें, तोल-तोल कर बोलें तो मानना होगा कि एक घंटे का मौन पूरे दिन का मौन हो गया। मौन का सम्यक् विकल्प है—वाक्संयम।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

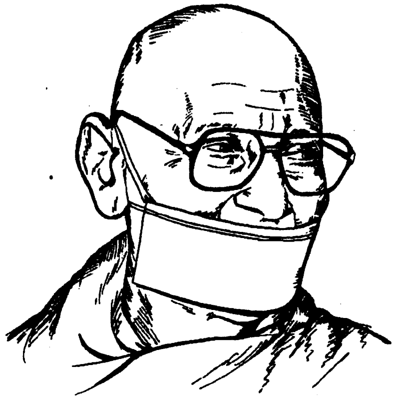

कर्मवाद का सिद्धांत है कि किया हुआ कर्म फल देता है। बिना परिपाक या विपाक हुए कोई भी कर्म फल नहीं देता। विपाक के भी कुछ रूप हैं—क्षेत्र-विपाक, काल-विपाक, पुद्‌गल-विपाक और जीव-विपाक। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक क्षेत्र से संबंधित है और कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक पुद्‌गल में होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक जीव से संबंधित है। सुख-दुख होना या साता-असाता होना जीव-विपाकी कर्म कहलाता है। सुख का अनुभव भी जीव को होता है। उसका परिपाक जीव में होता है, पदार्थ में नहीं। परंतु, हमने मान लिया कि पदार्थ का होना सुख है और पदार्थ का न होना दुख है। इससे बहुत बड़ी भ्रांति पैदा हो गई। अनेक मनीषी आचार्यों ने बताया कि पदार्थ के द्वारा जो होता है, वह ऐकांतिक सुख या दुख नहीं होता। जेठ की दुपहरी है। गहरी प्यास लगी है। पानी का एक गिलास मिलता है तो सुख का अनुभव होता है। व्यक्ति को सुख का अनुभव हुआ पानी से। पानी सुख का अनुभव नहीं है। पानी सुख के अनुभव का एक साधन है। पानी एक पदार्थ है, जिसमें यह क्षमता है कि वह सुख का साधन बन सकता है। किंतु, पानी पीना सुख का अनुभव नहीं है, चेतना सुख का अनुभव करती है। चेतना को सुख होता है और पदार्थ उसका निमित्त बनता है। एक गिलास पानी पीया, फिर दूसरा गिलास पानी पीया, फिर तीसरा और चौथा गिलास पानी पीया। क्रमशः सुखानुभूति कम होती चली जाएगी और एक समय ऐसा भी आता है कि पानी पीने से सुख की अनुभूति बिल्कुल नहीं होती। जैसे-जैसे उपयोगिता कम होती है, सुखानुभूति भी कम होती चली जाती है। संगीत सुनने से व्यक्ति को सुख मिलता है। किंतु, एक व्यक्ति नींद में सोया हुआ है, वह संगीत को पसंद नहीं करेगा। एक आदमी खाने का शौकीन है, पर वह अगर रोग-ग्रस्त है तो अच्छा भोजन भी उसे अच्छा नहीं लगेगा।

**—आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

## प्रसंग

# आरोग्य का अभिप्राय

सीधे तौर पर आरोग्य का तात्पर्य अथवा मतलब स्वस्थ शरीर से ही लिया जाता है, पर आरोग्य का अभिप्राय यही-भर नहीं है। रुग्ण शरीर का उपचार हो और वह स्वस्थ हो जाए, इतना-भर तो आरोग्य का एक अल्प तात्पर्य है। आरोग्य का पूर्ण अभिप्राय तो तन-मन से स्वस्थ होना है, बल्कि कहना चाहिए कि स्वस्थ रहना है। स्वस्थ कैसे रहा जा सके? इस पर बहुत विचार हुआ है, पर समय के थपेड़ों में वह विचार नेपथ्य में जा पहुंचा है।

हम देखते हैं कि आज रोगों के उपचार पर हर तरह से प्रयत्न हो रहे हैं। एक ओर अनुसंधान पर तीव्रतर बल दिया जाता है, तो दूसरी ओर अनेक प्रकार के जांच-उपकरण आधुनिक चिकित्सा जगत में अपना गहरा स्थान बना चुके हैं। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में ऐलोपैथिक विधि विश्वव्यापी विकास के चरम पर है। शरीर के अंग-उपांगों को बदलने से लेकर, कृत्रिम अंगों के जरिए शरीर संचालित होने लगा है। आयुष्य बढ़ी है। कभी साठ वर्ष जीवायु मानी जाती थी, आज 75 पार की मृत्यु पर भी आश्चर्य प्रकट होता है। ये उपलब्धियां निश्चित तौर पर गर्व करने लायक हैं, पर आरोग्य का अभिप्राय इन से सिद्ध होता प्रकट नहीं हो रहा। बीमारी का उपचार और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ आरोग्य के वास्तविक तात्पर्य भी सिद्ध होने चाहिए, जो नहीं हुए। उपचार पर बल दिया गया, पर आरोग्य की उपेक्षा होती रही।

इसे आधुनिक युग की क्षुब्ध कर देने वाली देन ही कहा जा सकता है, जहां समस्याओं के समाधान तलाश करने में मेधा और संसाधन, दोनों लगते हैं, पर समस्या पैदा ही नहीं हो, इस पर गौर नहीं किया जाता। एक समय था, जब भारत में इसकी उपेक्षा नहीं हुई। आयुर्वेदशास्त्र इसका प्रमाण है। हमारा दैनंदिन, खान-पान, सोना-उठना और चाल-ढाल सभी-कुछ निश्चित अनुशासन से बद्ध रहे। इसे ऋतुचर्या कहा गया और इसीके अनुकूल चलने में आरोग्य निहित माना गया। समय के थपेड़ों ने इसे जब ग्रस लिया तो बीमारी का उपचार प्रमुखतः सामने आ गया। स्वस्थ जीवन-शैली अथवा आरोग्यपूर्ण जीवन-विधि पीछे धकेल दी गई। लेकिन, विडंबना ही कहिए कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति का यह चरम विकास मनुष्य को आरोग्यवान बना पाने में सफलता हासिल नहीं कर सका। कहिए कि 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की'—उक्ति लगातार चरितार्थ होती गई। यही वजह है कि आज फिर उस ओर लौटने की तड़फड़ाहट नजर आने लगी है, जिसमें आरोग्य के अभिप्राय निहित हैं।

जैसा कि कह ही चुके हैं कि तन-मन से स्वस्थ रहना ही आरोग्य का तात्पर्य है और भारतीय मनीषा ने इस पर गहन विचार किया है। उन विचारों और विधियों में बीमारी के उपचार की बात कम और आरोग्यशील बने रहने की बात अधिक कही गई है। चैन्नई स्थित 'सेंटर फॉर इंडियन नॉलेज सिस्टम्स' जैसे संस्थान इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इस दिशा में फिर से किया जा रहा यह शोध आधुनिक चिकित्सा-विधि के सम्मुख एक सबल विकल्प के रूप में सामने आया है। अलबत्ता, जिस तरह के संसाधन आधुनिक चिकित्सा-विधि को उपलब्ध हुए हैं और जो प्रचार इसे मिला है, उसके चलते तूती आज भी इसी की बज रही है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे उस ज्ञान के प्रचार और अनवरत शोध के लिए अपेक्षित संसाधन उपलब्ध हों। यह इसलिए भी आवश्यक है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति के जरिए होने वाला उपचार आम आदमी की पहुंच से बहुत दूर है। बीमारी की जांचों का लंबा और असमाप्त होने वाला चक्र एक बीमार को थका देने वाला, बल्कि एक अलग तरह की व्याधि की चपेट में फंसा देने वाला साबित हो रहा है। महंगी और पहुंच से दूर जांच-पड़ताल के बाद उपचार में लगने वाली महंगी दवाएं भी बीमार के घर-परिवार को कहीं का नहीं छोड़तीं। इसके विपरीत आरोग्य के लिए जो देशज विधियां उपलब्ध हैं, वे सभी इन जटिलताओं से दूर हैं और एक-एक व्यक्ति की पहुंच में हैं। बात सिर्फ इतनी है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति का फैलता मकड़जाल जब तक सीमित नहीं होगा, इन विधियों का अस्तित्व प्रकट होने में बाधाएं आती रहेंगी। यह दुर्भाग्य ही मानिए कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति की इनके साथ परस्परता भी स्थापित नहीं हो सकी।

आरोग्य के लिए ऋतुचर्या तो एक महत्त्वपूर्ण और असरकारी उपाय है ही, भारतीय मनीषा ने अन्य प्रभावकारी विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं। उस ओर भी अब ध्यान जाने लगा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी 'महावीर का स्वास्थ्य-शास्त्र' के जरिए ऐसे उपायों की विशद और असरदार चर्चा की है, यह मानते हुए कि महावीर ने स्वास्थ्य के शास्त्र का प्रतिपादन कभी नहीं किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आरोग्य को जीवन से जुड़ा हुआ प्रश्न मानते हैं और कहते हैं कि शरीर का मूल्य तभी है, जब आत्मा का विकास हो। उसे स्वस्थ रखने के लिए जो सूत्र भगवान महावीर ने दिए, वही 'महावीर का स्वास्थ्य-शास्त्र' बन गया। उन्होंने आत्मिक स्वास्थ्य के बाधक तत्त्वों—राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक, घृणा और काम-वासना का जिक्र किया है और माना है कि ये तत्त्व शरीर और मन, दोनों को रुग्ण बनाते हैं। इनका स्वस्थ रहना ही आरोग्य का मूल आधार है।

महावीर ने माना कि स्वास्थ्य वहीं है, जहां आत्मा की विशुद्धि है। आत्मा की मलिनता को ही उन्होंने रुग्णता माना है। स्वास्थ्य के संदर्भ में सात अंगों के समुच्चय को अस्तित्व माना। ये सात अंग हैं—शरीर, इंद्रिय, श्वास, प्राण, मन, भाव और भाषा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'महावीर का स्वास्थ्य-शास्त्र' में इन सातों अंगों की विवेचना करते हैं। इनकी विवेचना करते हुए वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी आधार बनाते हैं। श्वास और प्राण की बात करते हुए मस्तिष्क के दाएं-बाएं पटल और श्वास की क्रियाओं का जिक्र करते हैं। इसी तरह प्राण की विवेचना करते हुए उसके संतुलन के बारे में चर्चा करते हैं। इसी तरह मन और भाव की विवेचना करते हुए 'लिंबिक सिस्टम और हाइपोथेलेमस' की बात कहते हैं। आत्मा व शरीर के संगम के रूप में मन और भाव के तंत्र तथा भाषा का जिक्र करते हुए वे स्वास्थ्य के सूत्रों को समझाते हैं। भाषा की बात करते हुए ध्वनि और प्रकंपनों का जिक्र करते हैं और बताते हैं कि ध्वनि-चिकित्सा का इसी तरह विकास हुआ। कौन-सा स्वर किस तंत्र (शरीर-तंत्र) को संतुलित करता है—यह ठीक प्रकार से जान-समझ लिया जाए तो गहरे अवसाद से ग्रस्त मनुष्य भी संगीत के स्वरों के प्रभाव से अवसादमुक्त होकर पुनः स्फूर्ति पा सकता है।

इस तरह हम पाते हैं कि आरोग्य का अभिप्राय जिस व्यापक रूप में भारतीय दृष्टिकोण से समझा जा सकता है, आधुनिक चिकित्सा-विधि या एलोपैथी में इसे नहीं पाया जा सकता। सात अप्रैल—विश्व स्वास्थ्य दिवस जैसे अवसर पर आरोग्य के प्रसंग पर कुछ इस तरह विचार होना चाहिए। भारतीय मनीषा ने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, यदि उस पर चर्चाएं हों तो हम एक व्यापक और सम्यक् दिशा की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

**—शुभू पटवा**

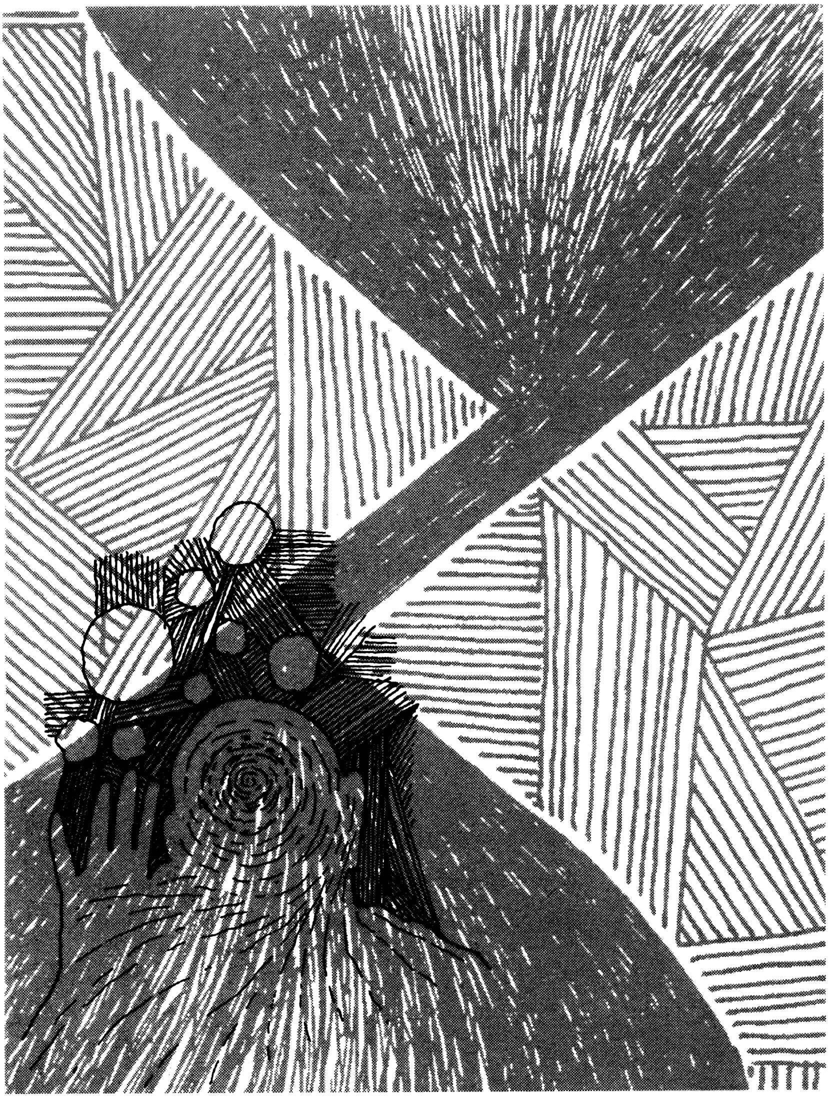

# विमर्श

मानव-कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय—दोनों अत्यावश्यक हैं। हम चाहें तो एक को अतिरंजित कर सकते हैं या दूसरे को अवमूल्यित। परंतु जो आदमी जैन-मत के अनेकांतवाद, सप्तभंगीनय या स्याद्वाद की धारणा का अनुसरण करता है, वह उस प्रकार का सांस्कृतिक साधारणीकरण या 'रेजिमेंटेशन' नहीं स्वीकार करेगा। उसके और उसके प्रतिपक्षी के विचारों में से किसके विचार सही हैं और किसके गलत, इसको समझने का विवेक उसके पास होगा; फिर वह दोनों प्रकार के विचारों में समन्वय करने की चेष्टा करेगा। हमें ऐसा ही रुख अपनाना चाहिए। इसीलिए आत्म-नियंत्रण, अहिंसा के अभ्यास, सहिष्णुता तथा दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति की आवश्यकता है—ये कुछ शिक्षाएं हमें महावीर के महान जीवन से प्राप्त हो सकती हैं।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

*असल बात यह है कि वैदिक युग का भारतवासी अपनी धारणाओं में स्थिरता बहुत शीघ्र नहीं आने देता था। चिंतन में उसकी रुचि इतनी गहरी थी और तत्त्व को अपने गर्भ में छिपाए रखने वाले रहस्य के प्रति उसकी संवेदनशीलता इतनी तीव्र थी कि किसी संतोषजनक समाधान में जब तक वह नहीं पहुंचा तब तक उसने उन प्राकृतिक घटनाओं को, जिन्हें वह समझना चाहता था, अपने सामने खुले रूप में रखा। यह विशेषता सत्य के प्रति आसक्ति प्रकट करती है और न केवल भारतीय दार्शनिक अन्वेषण की गहनता का कारण है, बल्कि दार्शनिक समस्याओं के उन समाधानों की अत्यधिक विविधता का भी कारण है जो भारतीय विचारधारा ने प्रस्तुत किए हैं।*

# प्राचीन भारतीय धर्म : पूर्ववर्ती अवस्थाएं

❑ एम. हिरियन्ना

धर्म का मूल रूप रहस्य के आवरण से आच्छादित है और उसके संबंध में अत्यधिक मतभेद हैं। हम इस बात को मान सकते हैं कि उसका प्राचीनतम रूप प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का था। मनुष्य जब विशुद्ध पाशविक चेतना की स्थिति से पहले-पहल बाहर आता है, तब यह देखता है कि वह प्रकृति की जिन विशाल शक्तियों से घिरा हुआ है, लगभग पूरी तरह उनके अधीन है। और चूंकि वह अपने अनुभव से शक्ति का ऐच्छिक प्रयत्न से संबंध जोड़ने का अभ्यस्त होता है, इसलिए वह इन शक्तियों के पीछे अदृश्य रूप से काम करने वाली चेतन सत्ताओं की कल्पना कर लेता है। दूसरे शब्दों में, प्राचीनकाल का मनुष्य प्रकृति की शक्तियों में व्यक्तित्व का आरोप कर देता है और ये अपनी विशालता के कारण उसकी देवता बन जाती हैं। वह उनके प्रति भय, आश्चर्य और पूजा का मिला-जुला भाव अपना लेता है, उनकी स्तुति में गीत गाता है और उन्हें प्रसन्न करने या उनका अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु उनकी उपासना करता है या उन्हें बलि देता है। लेकिन, ये देवता केवल सीमित अर्थ में ही देवता हैं, क्योंकि 'देवता' कहलाने के बावजूद इन्हें मनुष्य की आकृति में कल्पित किया जाता है और उन्हीं अभिप्रेरकों और मनोवेगों से संचालित माना जाता है जिनसे उनकी कल्पना करने वाला मनुष्य संचालित होता है। ये वास्तव में महिमा-मंडित मनुष्य हैं और इसलिए न पूर्णतः लौकिक हैं और न पूर्णतः अलौकिक। इस प्रकार का विश्वास यद्यपि सरल और बालोचित लगता है, तथापि ऐसी बात नहीं है कि इसका दार्शनिक आधार बिल्कुल हो ही नहीं। यह इस आस्था का सूचक है कि दृश्य-जगत स्वयं अंतिम वस्तु नहीं है और सत्य उसके अंदर छिपा हुआ पड़ा है। साथ ही यह मूलतः अनुभव के तथ्यों की व्याख्या करने का प्रयास भी है, जिसमें यह विश्वास गर्भित है कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है। और कारणता की सार्वभौमता में विश्वास करने का मतलब निश्चय ही प्रकृति की एकरूपता में विश्वास करना है।

यदि आदिम मानव ने, प्राकृतिक घटनाएं जिस नियमितता के साथ बार-बार होती हैं, उसे न देखा होता और यदि उसे इस बात में दृढ़ विश्वास न हुआ होता कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है, तो वह उनकी व्याख्या के लिए ऐसे देवताओं की कल्पना का सहारा न लेता। यह सही है कि उन घटनाओं के पीछे सक्रिय मानी जाने वाली कुछ शक्तियों पर वह उनका अध्यारोप मात्र कर देता है और इसलिए उसकी दी हुई व्याख्या सच्चे अर्थ में व्याख्या नहीं है। इसके अतिरिक्त, अधिकांशतः उसे इस बात की बिल्कुल भी चेतना नहीं थी कि वह व्याख्या कर रहा है। फिर भी, देखे हुए तथ्यों के कारणों की खोज का प्रयत्न यहां स्पष्टतः मालूम पड़ता है, भले ही वह असफल या अचेतन हो। किसी

तरह के यदृच्छावाद से संतोष कर लेना इस प्रकार की परिकल्पना की वृत्ति से मेल नहीं खाता। लेकिन, यहां हमारा धार्मिक विश्वास के प्राचीन रूप से सीधा संबंध नहीं है, क्योंकि भारत में धर्म का जो रूप आर्य-जाति में दिखाई दिया, उसके पीछे एक इतिहास रहा। जैसा कि एक अमरीकी विद्वान् ने विरोधाभासयुक्त शब्दों में कहा है, 'भारतीय धर्म का प्रारंभ भारत में उसके आने से पहले हो चुका था।'[1] यह उन भारोपीय लोगों के धर्म का अनुवर्ती रूप है, जिनकी भारत में पहुंचने वाली आर्य जाति एक शाखा थी। संस्कृत में अब भी कुछ प्राचीन शब्द पाए जाते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट सूचक हैं। उदाहरणार्थ, 'देव' शब्द (दिव्, चमकना) लैटिन के deus का सजातीय है और उस युग की ओर संकेत करता है, जब भारोपीय मनुष्य ने अपने मूल निवास-स्थान में देवत्व की अपनी धारणा को प्रकृति की प्रकाश देने वाली शक्तियों से संबद्ध किया था। पूजा की जिस भावना से उसने इन देवताओं के रूप में कल्पित शक्तियों को देखा, वह 'यज्' धातु (पूजा करना) से भी उतनी ही अच्छी तरह प्रकट होती है, जो कि एक से अधिक भारोपीय भाषाओं में समान है। एक और उदाहरण वैदिक देवता 'मित्र' का है, जो ईरानी भाषा में 'मिथ्र' था और जिसकी उपासना का कभी पश्चिमी एशिया और यूरोप में बहुत प्रचार था। इन उदाहरणों से समुचित रूप से पता चल जाता है कि प्राचीन भारतीय धर्म की पूर्ववर्ती अवस्थाएं क्या थीं। वह भारोपीय अवस्था में से गुजर चुका था और फिर भारत-ईरानी अवस्था में से भी, जिसमें बाद के भारतीयों और पारसियों के पूर्वज साथ-साथ रहे और उनके विश्वास एक रहे।

वैदिक देवताओं के समूह में न केवल उक्त दो प्राग्भारतीय युगों के प्राचीन देवता शामिल हैं, बल्कि और भी अनेक ऐसे देवता शामिल हैं, जिनकी कल्पना भारत में बसने वाले आर्यों ने अपने नए आवास में की थी, जैसे सरस्वती इत्यादि नदी-देवता। इन नए-पुराने सारे देवताओं की संख्या अनिश्चित है। कभी-कभी उन्हें तैंतीस माना जाता है और निवास-स्थान के अनुसार ग्यारह-ग्यारह के तीन वर्गों में रखा जाता है, जैसे—(1) मित्र और वरुण इत्यादि आकाशस्थ देवता, (2) इंद्र और मरुत् इत्यादि अंतरिक्षस्थ देवता तथा (3) अग्नि और सोम इत्यादि पृथिवीस्थ देवता। अनुषंगतः, यह वर्गीकरण देवताओं के पारस्परिक संबंधों को खोजने और उन्हें व्यवस्था देने की इच्छा भी प्रदर्शित करता है। ये सब समान शक्ति वाले देवता हैं और कोई सर्वोच्च देवता या ईश्वर नहीं माना गया है। यद्यपि इनमें से कुछ, विशेष रूप से युद्ध का देवता इंद्र और भक्त का देवता वरुण—अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं।

यहां वैदिक देवताओं के विस्तृत वर्णन में जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उनकी ऐसी बातों पर ध्यान देना पर्याप्त है जिनका दार्शनिक महत्त्व है। सबसे पहली बात, जिसकी ओर ध्यान जाता है—यह है कि वैदिक देवताओं की प्रकृति से कितनी आश्चर्यजनक निकटता है। उदाहरण के लिए, अग्नि और पर्जन्य का प्रकृति में जो आधार है, उसके बारे में बिल्कुल भी संदेह नहीं है। ये देवता हैं और साथ ही हमारी जानी-पहचानी प्राकृतिक चीजें, आग और बादल भी हैं। यह सच है कि अश्विन और इंद्र जैसे कुछ अन्य देवता भी हैं, जिनकी पहचान करना इतना आसान नहीं है, लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि यूनानी देवताओं के विपरीत, वैदिक देवता प्रधानतः ऐसे हैं जिनके संबंध में व्यक्तित्वारोपण की क्रिया अपूर्ण रह गई है। यह एक उल्लेखनीय बात है, क्योंकि इससे दिखाई देता है कि अन्य धर्मों की तुलना में वैदिक धर्म अपने स्रोत से कितनी अधिक दूर पड़ गया था। उसे सामान्यतः 'रुद्ध मानवत्वारोपण' कहा गया है, लेकिन इस प्रयोग से कुछ ऐसा लगता है जैसे कि देवत्व की वैदिक धारणा में एक इष्ट वस्तु, अर्थात् पूर्ण व्यक्तित्वारोपण का अभाव हो, जबकि वास्तव में इससे एक अच्छाई का संकेत मिलता है, और वह है वैदिक आर्य की दार्शनिक चिंतन के अत्यधिक अनुकूल मनोवृत्ति। हो सकता है कि भारत में प्रकृति के जो विशेष आकर्षण हैं, इनके कारण आर्यों के अंदर प्रकृति के प्रति यह 'अविस्मरणशील आसक्ति' आई हो, जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है।[2] लेकिन, यह वैदिक आर्य की दार्शनिक मनोवृत्ति का परिणाम भी, कम-से-कम, उतना ही है। असल बात यह है कि वैदिक युग का भारतवासी अपनी धारणाओं में स्थिरता बहुत शीघ्र नहीं आने देता था। चिंतन में उसकी रुचि इतनी गहरी थी और तत्त्व को अपने गर्भ में छिपाए रखने वाले रहस्य के प्रति उसकी संवेदनशीलता इतनी तीव्र थी कि किसी संतोषजनक समाधान में जब तक वह नहीं पहुंचा तब तक उसने उन प्राकृतिक घटनाओं को, जिन्हें वह समझना चाहता था, अपने सामने खुले रूप में रखा।[3] यह विशेषता सत्य के

प्रति आसक्ति प्रकट करती है और न केवल भारतीय दार्शनिक अन्वेषण की गहनता का कारण है, बल्कि दार्शनिक समस्याओं के उन समाधानों की अत्यधिक विविधता का भी कारण है, जो भारतीय विचारधारा ने प्रस्तुत किए हैं।

प्राचीन भारतीय धर्म की एक अन्य विशेषता भी इतनी ही उल्लेखनीय है और ऋत की धारणा में दिखाई देती है, जिसे मंत्रों में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।[4] देवताओं के वर्णन में 'गोपा ऋतस्य' (ऋत के परिरक्षक) और 'ऋतायु' (ऋत का अभ्यास करने वाले) का प्रयोग बार-बार हुआ है। 'ऋत' शब्द प्राग्भारतीय मूल का है और प्रारंभ में इसका अर्थ था—प्रकृति की एकरूपता अथवा घटनाओं का व्यवस्थित क्रम, जो कि दिन-रात इत्यादि के नियमित रूप से होने में व्यक्त होता है। लेकिन, मंत्रों में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ के अतिरिक्त 'नैतिक व्यवस्था' के अर्थ में भी हुआ है।[5] तदनुसार वैदिक देवताओं को न केवल विश्व-व्यवस्था को बनाए रखने वालों के रूप में, बल्कि नैतिक व्यवस्था के रक्षकों के रूप में भी देखना चाहिए। वे पुण्यात्माओं के मित्र हैं और पापियों के शत्रु हैं। इसलिए यदि मनुष्य उनके कोप का भाजन नहीं बनना चाहता, तो उसे धर्मपरायण बनने का प्रयत्न करना चाहिए। विश्व-व्यवस्था और नैतिक व्यवस्था, दोनों ही को बनाए रखने का देवताओं का समान दायित्व वरुण की धारणा में विशेष रूप से स्पष्ट है। वरुण आकाश का प्रतिनिधि और आकाशस्थ प्रकाश का देवता है। उसे भौतिक जगत के नियमों का, जिनका उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता, बनाने वाला कहा गया है। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि उसकी शक्ति से ही नदियां महासागर में निरंतर गिर रही हैं, फिर भी उसका जल मर्यादा के अंदर रहता है। लेकिन, उसका प्रभाव भौतिक जगत तक ही सीमित नहीं है। वह उसके बाहर नैतिक जगत तक व्याप्त है और वहां भी उसके बनाए हुए नियम उतने ही शाश्वत और दुरतिक्राम्य हैं। वह सर्वज्ञ है, जिससे पाप की अल्पतम मात्रा भी उसके लिए अगम्य नहीं है। उसकी सतर्क दृष्टि की सर्वगामिता को बताने के लिए कहीं-कहीं सूर्य की, उसके चक्षु के रूप में काव्योचित कल्पना की गई है। लेकिन, शीघ्र ही वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में इंद्र ने ले लिया था, जो कि, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, सदाचार का देवता न होकर युद्ध का देवता है। इस बात से कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों के नैतिक आदर्श में इस परिवर्तन के साथ गिरावट आ गई थी।[6] लेकिन, वे उन असाधारण परिस्थितियों को भूल जाते हैं, जिनमें इंद्र को प्रमुखता प्राप्त हुई। बाहर से भारत में आने वाले आर्यों को यहां की बहुसंख्यक आदिम जातियों को पराजित करना था और क्योंकि इस कार्य के लिए वरुण का, जो कि वस्तुतः शांति का देवता था, आवाहन करना उचित नहीं था, इसलिए इस युद्ध-देवता की ऋग्वेदीय धारणा का विकास हुआ है। कहा गया है कि[7] 'राष्ट्र कभी उतने अधिक असंस्कृत नहीं होते जितने तब होते हैं, जब वे अन्य राष्ट्र के साथ युद्धरत होते हैं।' यह माना जा सकता है कि इंद्र की प्रधानता के काल में उसके विशेष गुण, अहंकार और हिंसा, उसके उपासकों के चरित्र में भी झलकने लगे थे। किंतु, यह तो एक अल्पस्थाई बात थी। इंद्र सदा के लिए भारतीयों का सर्वोच्च देवता नहीं बन गया, बल्कि उसे गौण स्थान प्राप्त हुआ और प्राधान्य नैतिक दृष्टि से अधिक उच्च देवताओं को मिला। अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि भारतीयों की दृष्टि में शक्ति ने सदा के लिए सत्य का स्थान ले लिया। इसके अतिरिक्त इंद्र नैतिक गुणों से नितांत शून्य है भी नहीं, और न वरुण ऋत का एकमात्र आश्रय है, क्योंकि सभी सूर्य-देवता, जिनमें से वह एक है, समान रूप से ऋत के आश्रय हैं।[8] फिर, वरुण केवल एक विशेष प्रकार की ईश्वरपरक धारणा का, जिसे इब्रानी धारणा कहा गया है, प्रतिनिधि है। किंतु, वैदिक-कालीन भारत में धर्म संबंधी विचारधारा का विकास बिल्कुल ही भिन्न दिशाओं में हुआ और उसमें देवत्व का विचार सामान्यतः अधिकाधिक अपुरुषपरक होता गया। अतः इस युग में आगे वरुण का आदर्श जिस उपेक्षा का भाजन बना, उसे उस समय की ईश्वर-विषयक धारणा के धीरे-धीरे त्याग दिए जाने का सूचक माना जा सकता है और उससे अनिवार्य रूप में यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि आर्यों के मन से स्वयं नैतिक विचार ही लुप्त हो गया था। इस प्रश्न का निर्णय तो स्वतंत्र प्रमाणों का विचार करके करना होगा। अतः इस वाद-विवाद के विस्तार में न जाकर हम रुडोल्फ रॉथ (Rudolph Roth) के मत को उद्धृत करेंगे, जो आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञों में से

एक थे। उक्त प्रश्न[9] पर विचार करते हुए रॉथ ने इस तरह की आधारभूत वैदिक धारणाओं पर पुनर्विचार किया है, जैसे मनुष्य और देवता के संबंध की और मृतात्माओं के भविष्य की धारणाएं। उनका निष्कर्ष यह रहा कि उन्हें असंदिग्ध नैतिक महत्त्व न प्रदान करना और जिस साहित्य में ऐसे विचार व्यक्त किए गए हों उसका आदर न करना असंभव है। ❖

**संदर्भ :**


1. **Maurice Bloomfield : Religion of the Veda**, पृ. 16.
2. वही, पृ. 82.
3. वही, पृ. 85, 151.
4. वही, पृ. 12.
5. 'अनृत' शब्द से तुलना कीजिए, जिसका अर्थ 'असत्य' या 'मिथ्या' है। यह अर्थ-विस्तार भारत-ईरानी युग में हुआ था।
6. देखिए, Cambridge History of India, जि. 1, पृ. 103, 108.
7. Religion of the Veda, पृ. 175.
8. देखिए, Macdonell : Vedic Mythology, पृ. 16, 65.
9. Journal of the American Oriental Society, जिल्द 3, पृ. 331-47; Prof. E.W. Hopkins का Ethics of India, पृ. 44, 61-62 भी द्रष्टव्य है। ❖❖



# जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

जैन भारती कार्यालय : पुरानी लेन, गंगाशहर 334401 बीकानेर (राज.)

प्रधान कार्यालय : 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001, फोन : 22357956, फैक्स : 22343666

## उपासक प्रशिक्षण शिविर 3 अगस्त, 2007 से 12 अगस्त, 2007 तक

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा इस वर्ष उपासक प्रशिक्षण शिविर दिनांक 3 अगस्त, 2007 से 12 अगस्त, 2007 तक उदयपुर में पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित किया जा रहा है। 3 अगस्त को नए शिविरार्थियों के लिए प्रवेश परीक्षा रहेगी। परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही शिविर में प्रवेश दिया जा सकेगा। शिविर में प्रवेश की अर्हता इस प्रकार है—

- आयु सीमा 25 से 60 वर्ष
- जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान।
- अर्हत वंदना, परमेष्ठी वंदना, पंचपद वंदना, पच्चीस बोल, प्रतिक्रमण कंठस्थ (इनकी परीक्षा के पश्चात् ही प्रवेश दिया जाएगा। अतः स्थानीय स्तर पर इनकी तैयारी अपेक्षित है।)।
- चयनित गीतों का लयाभ्यास
  1. प्रमाण गीत (प्रभो तुम्हारे....), 2. श्रद्धा विनय समेत...., 3. अणुव्रत गीत (नैतिकता की....), 4. प्रेक्षाध्यान गीत (आत्म–साक्षात्कार....), 5. तेरापंथ गीत (प्रभो! यह तेरापंथ महान....)
- परिषद् में बोलने एवं गाने की क्षमता अथवा उसके विकास की संभावना।
- स्वस्थ एवं श्रमशील, संयम एवं सादगी प्रधान जीवन शैली का अभ्यासी।
- प्रतिवर्ष संघ सेवा के लिए दो–तीन सप्ताह का समय देने की स्थिति।
- पुरुष एवं महिलाएं, दोनों इस श्रेणी में सम्मिलित हो सकते हैं।

नोट : शिविर में आवास एवं भोजन की व्यवस्था निःशुल्क रहेगी। अधिक जानकारी के लिए उपासक श्रेणी के राष्ट्रीय संयोजक श्री निर्मल नौलखा से 9314662423 अथवा राष्ट्रीय सह संयोजक श्री राजेंद्र सेठिया से 9414509906 नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं।

*परीषहजय, उपसर्गजय संयम साधना के मुख्य सूत्र हैं। इनसे समभाव फलित होता है। सल्लेखना व्रत संयम साधना का सहयोगी तत्त्व है। अतः परीषहजय एवं उपसर्गजय सल्लेखना व्रत की साधना के पूरक हैं। इनके पुष्ट होने पर सल्लेखना व्रत प्राणवान बनता है। वर्तमान युग में मानव भौतिकता की चकाचौंध में लिप्त है। घोर अज्ञान के कारण अनैतिकता, अशांति, कदाग्रह, आतंकवाद, संग्रहवृत्ति, असंवेदनशीलता जैसे अमानवीय गुणों का विस्तार हो रहा है। इस कारण प्रकृति (पर्यावरण) को दूषित किया जा रहा है तथा उसका अंधाधुंध दोहन हो रहा है। इसके बदले में प्रकृति हमें असाध्य बीमारियां, भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, पानी की कमी आदि दंड के रूप में प्रदान कर रही है।*

# परीषहजय, उपसर्गजय और सल्लेखना

मोहनराज तातेड़

जैन दर्शन के केंद्र में आत्मा है और आत्मा से कर्मों को अलग कर वीतरागता की स्थिति को प्राप्त करना साधना का मूल लक्ष्य होता है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने ग्रंथ **मनोनुशासन** में बतलाया— **आत्मशुद्धि साधनम् धर्मः**[1]। आत्मशुद्धि के साधन को धर्म कहा गया है। आत्मशुद्धि की प्रथम मंजिल सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन के बाद सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान के बाद सम्यक् चारित्र का स्थान है। तीनों के समन्वय की उत्कृष्ट अवस्था वीतरागता की प्राप्ति है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया— **सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः**[2]। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है। आगम वाणी में कहा गया है—**चारितं खलु धम्मो**[3]—चारित्र ही धर्म है। चारित्र के द्वारा ही आत्मशुद्धि संभव है। चारित्र को पुष्ट करने में परीषहजय एवं उपसर्गजय सहयोगी बनते हैं। परीषहजय का अर्थ है—कष्टों को समभाव से सहन करना। **परिषह्त इति परीषह**—जो सहा जाय वह परीषह है। परीषह को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है[4]—**मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः**।। अर्थात् स्वीकृत मार्ग से च्युत होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख, प्यास आदि जो दुख, कष्ट या विघ्न सहन किए जाएं—उन्हें परीषह कहते हैं और परीषहों को जीतना परीषहजय कहलाता है। परीषह के अर्थ में ही कहीं-कहीं पर 'उपसर्ग' शब्द भी व्यवहृत हुआ है। भगवान महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता। कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इंद्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किंतु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाए रखना है। आचार्य कुंदकुंद ने कहा है—

**सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे णिणस्सदि।**
**तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भवए।।**

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दुख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने-आप को दुख से भावित करना चाहिए। साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ परीषह की प्रतिकूलता रूपी गर्मी की भी आवश्यकता है। परीषह साधना के लिए बाधक नहीं, साधक है। अतः परीषहों के उत्पन्न होने पर उन्हें समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति के जीवों द्वारा किए जाने वाले कष्टों को उपसर्ग कहते हैं। इनको समभाव से सहन कर लेना उपसर्गजय कहलाता है। उपसर्ग अनेक प्रकार के हो सकते हैं। साधु के बाईस परीषह बताए गए हैं। जिन पर वह विजय पाता है। उत्तराध्ययन[5], समवायांग[6] और तत्त्वार्थ सूत्र[7] में

बाईस परीषहजय का वर्णन इस प्रकार है—

1. **क्षुधा**—भोजन संबंधी कष्ट को शांति से सहन करना। 2. **पिपासा**—पानी संबंधी कष्ट को समभाव से सहन करना। 3. **शीत**—ठंडी हवा व हिम को शांति से सहन करना। 4. **उष्ण**—गर्मी के कष्ट को समभाव से सहन करना। 5. **दंश-मशक**—मच्छर, कीड़े, मकोड़े आदि के काटने से उत्पन्न कष्ट को सहना। 6. **अचेल**—वस्त्र रहित या अल्प वस्त्र सहित हो जाने पर किसी प्रकार की चिंता नहीं करना। 7. **अरति**—संयम के प्रति अधैर्य को सहन करना। 8. **स्त्री**—स्त्री को निहार कर काम-विह्वल न होना स्त्री-परीषहजय है। 9. **चर्या**— किसी गृहस्थ या घर आदि में आसक्ति न रखकर ग्रामानुग्राम विचरण करना। 10. **निषद्या**—जंगली जानवरों की आवाज सुनकर भयभीत न होना। 11. **शय्या**—सोते समय ऊंची-नीची, उबड़-खाबड़ शय्या को सहन करना। 12. **आक्रोश**—प्रतिकूल वचन व व्यवहार पर आक्रोश न आना। 13. **वध**—तीक्ष्ण शस्त्रों से वध होने पर वध करने वाले के प्रति राग-द्वेष न करना। 14. **याचना**—भिक्षा के समय दीनता न लाना। 15. **अलाभ**—अभिलषित वस्तु न मिलने पर सम रहना। 16. **रोग**—शरीर में रोग उत्पन्न होने पर समभाव रखना। 17. **तृण स्पर्श**—तृणों पर शयन करने पर होने वाले कष्ट को समभाव से सहन करना। 18. **जल्ल**—पसीना, कीचड़, धूलि आदि के शरीर पर इकट्ठा हो जाने पर उसे दूर करने का प्रयास न करना। 19. **सत्कार-पुरस्कार**—प्रशंसा-निंदा की स्थिति में सम सहना। 20. **ज्ञान**—अज्ञान से उत्पन्न कष्ट को समभाव से सहन करना। 21. **दर्शन**—जिसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से स्थिर रहती है, वह दर्शन परीषह पर विजय पाता है। 22. **प्रज्ञा**—बुद्धि होने पर उसका मद न करना प्रज्ञा-परीषहजय है।

अपने-आप को इनमें सम रखना परीषहजय कहलाता है। कष्टों को समभाव से सहन करने से हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ती है। प्रतिरोधात्मक शक्ति कर्म-शरीर को शनैः-शनैः क्षीण करती है। परीषहजय में मन-वचन-काया योग स्थिर होते हैं। योगों की स्थिरता आत्मा से कर्मदल को अलग होने के लिए मजबूर करती है। जैसे जैसे समता आती है, कर्मशरीर को पोषण बंद होता है तथा कर्म-पुद्गल आत्मा से विलग होते हैं। इसे निर्जरा कहा जाता है। उपसर्गजय से संयम सधता है। उपसर्गजय संयम की साधना है। संयम साधना है, संवर उसकी निष्पत्ति है। परीषहजय तप का एक रूप है। तप साधना है, निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। भगवान महावीर ने संवर, निर्जरा को धर्म बताया है। संवर, निर्जरा आत्मशुद्धि में सहायक हैं।

आचारांग निर्युक्ति के अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह, ये शीत परीषह के अंतर्गत आते हैं और शेष बीस उष्ण परीषह में। परीषहजय, उपसर्गजय को साधक अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है तो वह निरंतर साधना से वीतरागता तक को प्राप्त कर सकता है। आत्मशुद्धि भावशुद्धि पर निर्भर करती है। भावशुद्धि समभाव में रहने से होती है। परीषह एवं उपसर्गजय व्यक्ति को समभाव में ले जाते हैं। राग-द्वेष का न होना समभाव है। मोह से राग-द्वेष, राग-द्वेष से कर्म, कर्म से जन्म-मरण, जन्म-मरण से दुख तथा दुख से राग-द्वेष—यह वर्तुल है, जो हर संसारी आत्मा के साथ चलता रहता है। परीषहजय राग-द्वेष को क्षीण करते हैं। उपसर्गजय कर्मों को क्षीण करते हैं। परीषहजय समभाव प्राप्त करने का सर्वोत्तम माध्यम है। समभाव आत्म-विजय का सर्वोत्तम माध्यम है।

## सल्लेखना व्रत

सल्लेखना में दो शब्दों का योग है—सत्+लेखना। सत् का अर्थ सम्यक् तथा लेखना का अर्थ सार-संभाल करना है। इस संदर्भ में लेखना का अर्थ व्यक्ति के द्वारा अपने जीवन में क्रिया-कलापों को त्यागते हुए शरीर को क्रमशः कृश करना है। अर्थात्, साधु अथवा श्रावक आहार का क्रमशः त्याग करते हुए मरण को प्राप्त करता है—उसे सल्लेखना कहते हैं। जैन धर्म एवं दर्शन अपने वैशिष्ट्य को लिए हुए अनादिकाल से निरंतर गतिशील है। विभिन्न मान्यताओं एवं सिद्धांतों को लिए हुए यह दर्शन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत साधना के अनेक पृष्ठों को उद्घाटित करता है। इसके मूल में समता, अभय, निर्ममत्व, अमूर्च्छा, अपरिग्रह आदि भावनाएं विद्यमान रहती हैं। बाह्य जगत से निस्पृही होने के साथ-साथ स्वयं के शरीर से भी जब मोह समाप्त हो जाता है, तब आहार आदि का त्याग कर अपने-आप को कृश करते हुए समाप्त किए जाने की कला जैन परंपरा में मान्य है—जिसे सल्लेखना (संथारा) कहा जाता है। भारतीय परंपरा में इसे 'समाधि' शब्द से जाना जाता है। जैन परंपरा में जहां जीने की कला सिखाई जाती है, वहां मरने की कला भी सिखाई जाती है। मरने की कला सल्लेखना है। सल्लेखना एक विधिपूर्वक शरीर को बाह्य एवं अंतःरूप में कृश करने की पद्धति-विशेष है। इसे आत्महत्या की संज्ञा

नहीं दी जा सकती। कष्टों से घबरा कर आवेशवश अपने शरीर को समाप्त करना आत्महत्या है। सल्लेखना में आत्मशुद्धि का लक्ष्य है तथा उसमें आत्मा की साक्षी है। सल्लेखना एक विशुद्ध साध्य के प्रति अपने-आप को समर्पित करने के भावों से ओत-प्रोत होती है। सल्लेखना में औदारिक शरीर के साथ-साथ कषायों को (कर्मशरीर को) कृश किया जाता है। सल्लेखना में कषायों को क्षीण कर समभाव की स्थिति प्राप्त करने का लक्ष्य होता है। यह मृत्यु से पूर्व की तैयारी है। इसे इच्छा-मृत्यु-वरण की वैज्ञानिक पद्धति कहा जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का दबाव व परवशता नहीं है। आत्महत्या में कष्ट व आवेश का दबाव होता है। आत्महत्या जीवन से ऊब कर अविवेकपूर्ण लिया गया निर्णय है। सल्लेखना अत्यंत सोच-समझकर प्रसन्नता से लिया गया निर्णय है।

जब साधु या श्रावक अपने औदारिक शरीर की स्थिति को तौल लेता है कि अब शरीर कारण-विशेष से इतना कृश हो गया है कि इसका जिंदा रहना मुश्किल है, तब साधक अपने मनोबल से धीरे-धीरे अनशन के माध्यम से इसको पोषण देना बिल्कुल बंद कर देता है। यहीं से सल्लेखना प्रारंभ होती है। सल्लेखना परीषहजय एवं उपसर्गजय का सर्वोत्तम उदाहरण है। सल्लेखना से होने वाले कष्टों में अपने-आप को साधक सम बना देता है, उस स्थिति में पूर्ण समभाव में रहता है। वह समभाव की स्थिति परीषहजय की स्थिति है। समभाव व परीषहजय एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। परीषहजय का दूसरा नाम समभाव है। इसी प्रकार सल्लेखना परीषहजय का पूरक है। परीषहजय व सल्लेखना भी एक सिक्के के दो पहलू हैं। परीषहजय व सल्लेखना, दोनों समभाव को बढ़ाते हैं। सल्लेखना एक तप है। परंपरा में इसे तपस्या या साधना का प्रयोग कहा जाता है। इसे न तो प्रथा, न दिखावा, अथवा न ही आत्महत्या की परिधि में लिया जा सकता है। इसका उद्देश्य मात्र अनासक्ति के क्षण में जीना है। शरीर के प्रति अनासक्त हो समाधिपूर्वक तप करना, ऐसे में मृत्यु आ जाए तो समतापूर्वक उसे स्वीकार करना—संथारा है। अंत समय में साधक संस्तारक (संथारा) मात्र का आश्रय लेकर देह त्याग करता है। इसे ही सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना मरणपूर्व की जाने वाली अनासक्तिपूर्ण पद्धति का नाम है।

### मरण का स्वरूप

मरण के संबंध में विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं, जिसका अर्थ 'मरण' या 'मृत्यु' ही किया है। मरण को समस्त शरीरधारी जीवों का स्वभाव (प्रकृति) माना है।[8] 'मरण' शब्द मृ धातु से बना है, जो भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर बनाया गया है।[9] इसका अर्थ है—प्राणों का परित्याग[10]। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये सभी एकार्थ वाचक हैं।[11] इसका दूसरा अर्थ एक प्रकार का विष भी किया गया है।[12] जैन दर्शन में मरण के संबंध में कहा गया है कि 'प्रस्तुत आयु से भिन्न अन्य आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का नाश होना मरण है।[13] अनुभूयमान आयु नामक पुद्‌गल का आत्मा के साथ विनष्ट (वियोग—पृथक्त्व) होना मरण है।

धवला में आयुकर्म को मरण का कारण माना है।[14] अपने प्राणों से प्राप्त हुए आयु का, इंद्रियों का और मन, वचन व काय—इन तीनों बलों का कारण–विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है।[15] मरण के दो रूप हमें मिलते हैं—प्रथम लोकप्रसिद्ध मरण, जो सामान्य व्यवहार में देखा जाता है तथा दूसरा प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना भी मरण ही है। जिन्हें क्रमशः तद्भव-मरण (लोकप्रसिद्ध मरण) एवं नित्य-मरण (प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना) कहते हैं।[16] अतः आत्मा का शरीर से अलग हो जाना ही मरण है। जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे पर्याय या शरीर को धारण करता है, तो जिस शरीर पर्याय को आत्मा छोड़ता है, वह मरण है। गीता[17] में मरण का अर्थ अकीर्ति किया गया है। सज्जन (सदाचारी) की अकीर्ति ही उसका मरण है। जिसका यश, गौरव, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि न रहे, वह मरण से अधिक होती है। आत्मा के संबंध में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नए शरीर को प्राप्त करता रहता है।[18] यहां पर जीवात्मा द्वारा जो पुराने शरीर को छोड़ने की बात कही गई है, वही मरण है। जैन दर्शन में सात प्रकार के भय[19] का उल्लेख किया गया है। उनमें से एक मरण भय भी है। अतः यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव मरणधर्मा हैं।

### मरण के भेद-प्रभेद

सल्लेखना का परीषहजय एवं उपसर्गजय के साथ गहरा संबंध है। ठीक उसी प्रकार सल्लेखना का मरण के साथ भी अंतःसंबंध है। क्योंकि सल्लेखना एक व्रत है, साधक पद्धतिपूर्ण जिसकी पालना करता है। भगवती आराधना में

वर्णित परंपरा में मान्य सत्तरह प्रकार[20] के मरणों में से पांच प्रकार[21] के मरणों का उल्लेख यहां किया जा रहा है—
1. बाल-बाल मरण, 2. बाल मरण, 3. बाल-पंडित मरण, 4. पंडित मरण, 5. पंडित-पंडित मरण।

## बाल-बाल मरण

यह संसार समुद्र है, जिसमें अनंतकाल से जीव अज्ञान के वशीभूत चारों गतियों में भ्रमण करते रहते हैं। आत्मा की अवस्था का पहला सोपान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। दर्शन-मोहनीय-कर्म संसार को विस्तार देने वाला कर्म है। जिसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती है, वह मिथ्यादृष्टि जीव कहलाता है।[22] आत्मोत्थान के लिए सबसे पहले दर्शन को सम्यक् करना होता है, अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाना होता है। जिस जीव में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग—पांचों आश्रव मौजूद होते हैं, वह पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहता है। ऐसा जीव जब मरता है, तो उसे बाल-बाल मरण कहते हैं।[23] 'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि'—सुंदर सृष्टि बनाने के लिए दृष्टि (चिंतन, दिशा, सोच) को सम्यक् बनाना होता है। जब दृष्टि अविधायक होती है, तब भव-भ्रमण की सीमा नहीं रहती है। ऐसा जीव पुनः-पुनः बाल-बाल मरण को प्राप्त होता है। इसे अज्ञान-अज्ञान मरण भी कहा जाता है।

## बाल मरण

जब सोच विधायक होती है, तो आत्मशुद्धि प्रारंभ होने लगती है। यह आत्मविश्वास की पहली सीढ़ी है। इसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं। आत्मा को ऐसा चिंतामणि रत्न मिलता है, जो पहले कभी नहीं मिला हो। वह चिंतामणि रत्न—**सम्यक्दर्शन** है। जिसने एक बार सम्यक्त्व (सम्यक्दर्शन) को प्राप्त कर लिया, उसने अपने भवों की सीमा तय कर ली, यानी वह मोक्ष का अधिकारी बन गया। कभी-न-कभी वह मोक्ष (निर्वाण) को जरूर प्राप्त करेगा। यह आत्मा का चौथा गुणस्थान—'अविरति सम्यक्दृष्टि'—कहलाता है। आत्मा का मिथ्यात्व समाप्त हो गया, लेकिन अज्ञान (अविरति) बाकी है। चौथे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय, योग—चार आश्रव रहते हैं। इस गुणस्थान का जीव सम्यक्दर्शन को जानता है, लेकिन संसार के भोगों के प्रति बहुत लालायित रहता है। इस स्थिति के जीव के मरण को बाल मरण कहते हैं।[24] बाल का अर्थ अज्ञान है। ऐसे प्राणी के मरण को अज्ञान मरण भी कहते हैं।

## बाल-पंडित मरण

ज्यों-ज्यों व्यक्ति अनासक्त-साधना की ओर अग्रसर होता है, त्यों-त्यों व्रतों को धारण करने लगता है। व्रत साधना है, जिसकी निष्पत्ति संवर है। जीव की क्रमिक उन्नति का यह पांचवां गुणस्थान है। इस गुणस्थान के प्राणी को श्रावक की संज्ञा दी जाती है। जिसे व्रताव्रती कहते हैं। इस गुणस्थान को 'देशविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान'—कहते हैं। इस गुणस्थान में व्रत व अविरति की आंशिक विद्यमानता पाई जाती है। प्रमाद, कषाय व योग आश्रव विद्यमान होते हैं। ऐसा जीव जब मरण को प्राप्त होता है, तो उसे बाल-पंडित मरण कहते हैं[25], यानी आंशिक अज्ञान की विद्यमानता। बाल व पंडित, दोनों की प्राप्ति के कारण इसमें आंशिक अज्ञान और स्थूल हिंसा आदि से विरति-रूप चारित्र व दर्शन, दोनों होते हैं। यह सल्लेखनापूर्ण मरण विरताविरत चारित्रधारी जीव के होता है।

## पंडित मरण

छठे व सातवें गुणस्थान में जिनका सल्लेखनापूर्वक मरण होता है, उसे पंडित मरण कहते हैं। पंडित-पंडित के प्रकर्ष रहित जिसका पांडित्य होता है, उसे पंडित कहते हैं तथा उनका सल्लेखनापूर्ण मरण पंडित मरण है। यह मरण उन साधुओं को होता है, जो अपने आचरण या चारित्र को शास्त्र-सम्मत या आप्तपुरुषों के कहे अनुसार बना पाते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है कि पंडित मरण के तीन प्रकार हैं[26]—1. प्रादोपगमन, 2. भक्त प्रतिज्ञा, 3. इंगिणी मरण।

## प्रादोपगमन

पाद और उपगमन, अर्थात् पैरों से उपगमनपूर्वक होने वाले मरण को प्रादोपगमन मरण कहते हैं। अपने पैरों से चल कर, अर्थात् संघ से निकल कर योग्य देश में आश्रय लेना प्रादोपगमन है। इसमें साधु न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरों से कराता है। जिसमें अस्थिमात्र शेष रहता है, वह प्रादोपगमन करता है। प्राद का अर्थ संन्यास है। अतः संन्यासियों (साधुओं) के मरण का एक भेद इसे कहा गया है।

## भक्त प्रतिज्ञा—

भक्त का अर्थ—जिसका सेवन किया जाए और पइण्णा का अर्थ है—त्याग। अर्थात् जिसमें भोजन का त्याग किया जाए—वह भक्त प्रतिज्ञा है। यह दो प्रकार

से किया जाता है—1. सविचार भक्त प्रतिज्ञा और 2. अविचार भक्त प्रतिज्ञा।

यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। जबकि सविचार भक्त प्रत्याख्यानं अर्हम, लिंग आदि चालीस पदों[27] द्वारा लिए जाने का विधान किया गया है।

## इंगिणी मरण

इंगिणी मरण का अर्थ है, अपने अभिप्राय के अनुसार रह कर होने वाला मरण। इंगिणी शब्द का तात्पर्य इंगित, अर्थात् संकेत से है। इंगिणी मरण का इच्छुक साधु संघ से निकल कर या अलग होकर गुफा में एकाकी आश्रय लेता है। इसमें वह अपनी सेवा स्वयं तो करता है, लेकिन दूसरे से नहीं कराता। इसका कोई सहयोगी साधु नहीं होता। स्वयं अपना संस्तारक बनता है और स्वयं अपनी परिचर्या करता है।

## पंडित-पंडित मरण

सम्यक्, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्टतम स्थिति में जीव पंडित-पंडित मरण को प्राप्त होता है। गुणस्थान की अपेक्षा से जीव जब बारहवें गुणस्थान को स्पर्श कर लेता है, तो वह वीतराग हो जाता है, उसके कषाय समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आश्रव पूर्ण रूप से क्षीण हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में मात्र योग-आश्रव रहता है, इस कारण वह सयोगी केवली कहलाता है तथा जब जीव आत्मशुद्धि की उत्कृष्टतम स्थिति, चौदहवें गुणस्थान, को प्राप्त करता है, तो योग-आस्रव भी समाप्त हो जाता है तथा जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी शुद्ध आत्मा का मरण पंडित-पंडित मरण कहलाता है। आठवें गुणस्थान को प्राप्त करने पर अगर जीव क्षपक श्रेणी ले लेता है, तो वह मोक्ष को प्राप्त होता है और आठवें गुणस्थान में जीव उपशम श्रेणी ले लेता है, तो ग्यारहवें गुणस्थान, उपशांत मोह, को प्राप्त कर नीचे गिर जाता है तथा पहले गुणस्थान—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक भी गिर सकता है। पंडित-पंडित मरण सर्वोत्तम मरण है।[28]

इस प्रकार परीषहजय, उपसर्गजय संयम साधना के मुख्य सूत्र हैं। इनसे समभाव फलित होता है। सल्लेखना व्रत संयम साधना का सहयोगी तत्त्व है। अतः परीषहजय एवं उपसर्गजय सल्लेखना व्रत की साधना के पूरक हैं। इनके पुष्ट होने पर सल्लेखना व्रत प्राणवान बनता है। वर्तमान युग में मानव भौतिकता की चकाचौंध में लिप्त है। घोर अज्ञान के कारण अनैतिकता, अशांति, कदाग्रह, आतंकवाद, संग्रहवृत्ति, असंवेदनशीलता जैसे अमानवीय गुणों का विस्तार हो रहा है। इस कारण प्रकृति (पर्यावरण) को दूषित किया जा रहा है तथा उसका अंधाधुंध दोहन हो रहा है। इसके बदले में प्रकृति हमें असाध्य बीमारियां, भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, पानी की कमी आदि दंड के रूप में प्रदान कर रही है।

अगर हम वर्तमान युग में मानवीय एकता, सदाचार, भाईचारा, शांति, अनाग्रह, संवेदनशीलता, नैतिकता आदि मानवीय गुणों को बढ़ाना चाहें तो हमें परीषहजय, उपसर्गजय के सिद्धांत को आत्मसात करना होगा। परीषहजय से इच्छा-परिमाण, अनासक्ति, वैराग्य व मैत्री भावना की वृद्धि होती है। परीषहजय मानव कल्याण का अमोघमंत्र है। परीषहजय, उपसर्गजय के निरंतर अभ्यास से जीवन की अंतिम सर्वोत्तम अवस्था सल्लेखना को प्राप्त किया जा सकता है। ❖

## संदर्भ सूची :


1. जैन सिद्धांत दीपिका—आचार्यश्री तुलसी, 7/23, पृ.सं. 52
2. तत्त्वार्थ सूत्र—9/23
3. आगम वाणी—भगवान महावीर
4. तत्त्वार्थ सूत्र—9/8
5. उत्तराध्ययन—30/27
6. समवायांग—समवाय 22
7. तत्त्वार्थ सूत्र—9/10-12
8. मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम-रघुवंश (कालिदास), 8/87
9. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश (मृ+भावे ल्युट्), पृ. 777
10. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), पृ. 49, गाथा 25 की टीका, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर
11. वही, पृ. 49
12. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 777
13. अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे का', भगवती आराधना (विजयोदय टीका), पृ. 50
14. आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्—धवला
15. स्वपरिणामोपातस्यायुष इन्द्रियाणां बालानां च कारणंवशात्संक्षयो मरणम्, सर्वार्थसिद्धि, पृ. 280
16. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग 3), पृ. 278
17. संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।। भगवद्गीता, 2/34
18. वही, 2/22
19. दूहयरलोपतां अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया। मूलाचार, 53
20. भगवती आराधना की टीका में वर्णित 17 मरण


शेष पृष्ठ 22 पर

*भगवान महावीर ने कर्म के संबंध में अनेक नवीन अवधारणाएं प्रदान की हैं। कर्म को अविद्या, वासना, संस्कार, ऋत या अदृष्ट न मानकर उसे पौद्गलिक सत्ता स्वीकार की है। कर्म ही सब-कुछ नहीं है। उसे बदला जा सकता है—यह महावीर की सर्वथा मौलिक प्रस्थापना है। कर्म के क्षेत्र में पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी भगवान महावीर को ही है। उन्होंने कर्म सिद्धांत की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से प्रदान की। उन्होंने कहा—यदि सब-कुछ कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की सार्वभौम सत्ता होती तो उसका चक्र कभी तोड़ा ही नहीं जा सकता।*

# कर्म और पुरुषार्थ : सापेक्ष दृष्टि

साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा

कर्म सिद्धांत पुरुषार्थवाद की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। भगवान महावीर का जैन दर्शन व सिद्धांत काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ— इन पांच समवायों को स्वीकार करता है। क्रिया की निष्पत्ति में जहां कर्म का योग है वहां काल, स्वभाव आदि का भी मूल्य है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थितियों पर आधृत हैं और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे स्वयं के पुरुषार्थ में विद्यमान हैं। पुरुषार्थ हमारी शक्ति का प्रतीक है। अतीत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य है। वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य का भाग्य निर्मित करता है।

प्रत्येक जीव अपने वीर्य के द्वारा कुछ करता है और उसका परिणाम भोगता है। कर्म स्वयंकृत है। कर्मवाद का सामान्य नियम है—**सुचीण्णा कम्मा सुचीण्णा फला**—शुभ कर्म का परिपाक शुभ होता है और अशुभ कर्म का अशुभ फल होता है। जैसा करोगे, वैसा भरोगे—यह कर्मवाद की प्रचलित अवधारणा है। इस स्थिति में कर्मों की सत्ता सर्वोपरि हो जाती है। यहां पुरुषार्थ की व्यर्थता सिद्ध होती है, कर्म और पुरुषार्थ में विरोध की स्थिति प्रतीत होने लगती है। इसका परिहार करते हुए भगवान महावीर ने कहा—जीव अपने पुरुषार्थ से कर्म में परिवर्तन कर सकता है। पुरुषार्थ और कर्म, दोनों सापेक्ष हैं। कहीं कर्म बलवान है, कहीं पुरुषार्थ शक्ति-संपन्न है। इसका स्पष्ट निदर्शन है—कर्म की चार अवस्थाएं। उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना और संक्रमण जीव के पुरुषार्थ-विशेष के साक्ष्य हैं। जीव अपने विशेष प्रयत्न से कर्म के स्वभाव, विपाक, स्थिति और प्रदेश आदि में परिवर्तन कर सकता है। उनको घटा-बढ़ा सकता है। पुण्य को पाप में, पाप को पुण्य में बदल सकता है।

भगवान महावीर ने कर्म के संबंध में अनेक नवीन अवधारणाएं प्रदान की हैं। कर्म को अविद्या, वासना, संस्कार, ऋत या अदृष्ट न मानकर उसे पौद्गलिक सत्ता स्वीकार की है। कर्म ही सब-कुछ नहीं है। उसे बदला जा सकता है—यह महावीर की सर्वथा मौलिक प्रस्थापना है। कर्म के क्षेत्र में पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी भगवान महावीर को ही है। उन्होंने कर्म सिद्धांत की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से प्रदान की। उन्होंने कहा—यदि सब-कुछ कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की सार्वभौम सत्ता होती तो उसका चक्र कभी तोड़ा ही नहीं जा सकता।

कर्म-परिवर्तन के लिए हमें कर्मों की इन चार अवस्थाओं को सविस्तार समझना होगा—

**उदीरणा**—उदीरणा आत्मा का पुरुषार्थ है। नियतकाल से पूर्व प्रयत्नपूर्वक उदय में लाकर कर्म-फल भोग लेना उदीरणा है।[1] उदय दो प्रकार का है—1. उदय (सहज), 2. उदीरणा उदय। स्वाभाविक उदय में नवीन पुरुषार्थ अकिंचित्कर होता है। बंध-स्थिति की पूर्णता होते

ही कर्म-पुद्गल स्वतः उदय में आ जाते हैं। पंचसंग्रह में सहज उदय को संप्राप्ति-उदय तथा उदीरणा-उदय को असंप्राप्ति उदय कहा है।[2] उदीरणा संबंधी जिज्ञासा के स्वरों में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—'भंते! जीव उदीर्ण कर्म की उदीरणा करता है और अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा भी करता है? अनुदीर्ण, किंतु उदीरणायोग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? उदयांतर पश्चात् कृतकर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

इसके समाधान में भगवान ने तृतीय विकल्प को समुचित प्रतिपादित किया। जीव अनुदीर्ण, किंतु उदीरणायोग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है।[3]

अनुदीर्ण वह है जो अभी फल देने में परिणत नहीं है। उसके दो भेद हैं[4]—1. **चिर भविष्य में जिनकी उदीरणा होने वाली है। 2. भविष्य में जिनकी उदीरणा नहीं होने वाली है।**

उदीरणा के अंतर्गत वे ही कर्म-पुद्गल आते हैं, जिनकी चिर भविष्य में उदीरणा होने वाली है। उपशम, निघत्ति और निकाचना—ये तीन करण उदीरणा के अयोग्य हैं। उदीरणा के चार भेद हैं—1. प्रकृति उदीरणा 2. स्थिति उदीरणा 3. अनुभाग उदीरणा 4. प्रदेश उदीरणा।[5]

**प्रकृति उदीरणा**—प्रसिद्ध जैन आगम पन्नवणा में कर्म की 148 प्रकृतियां कही गई हैं। जबकि कर्मग्रंथ में 158 कर्म-प्रकृतियों का उल्लेख है। दिगंबर परंपरा में 148 प्रकृतियां विवक्षित हैं। पंचसंग्रह के अनुसार 110 प्रकृतियां उदीरणा के योग्य हैं। दिगंबर परंपरा 122 प्रकृतियों की उदीरणा स्वीकार करती है।

स्थिति उदीरणा के दो भेद निर्दिष्ट हैं—उदीरणा प्रायोग्य और उदीरणा अप्रायोग्य।

**उद्वर्तना**—कर्म-परिवर्तन का एक हेतु है—उद्वर्तना। स्थिति और अनुभाग की वृद्धि को उद्वर्तना कहते हैं।[6] इसमें कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।[7] यह नवीन कर्मबंध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मंदता पर आधारित है।

**अपवर्तना**—स्थिति बंध और अनुभाग बंध के घटने को अपवर्तना कहते हैं।[8] अध्यवसाय-विशेष से कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में कमी कर देने का नाम है—अपवर्तना। धवलाकार ने इसे अपकर्षण भी कहा है। 'कर्म की बंधकालीन स्थिति अपरिवर्तनीय होती है'—इस मान्यता का इससे निराकरण हो जाता है। प्रयत्न-विशेष व अध्यवसाय की शुद्धाशुद्धि परिवर्तन घटित करने में सक्षम हैं।

**संक्रमण**—वीर्य-विशेष से सजातीय कर्म-प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तित होना, एक-दूसरे में संक्रांत होना संक्रमण है। जैन दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी है। कर्मों की एक-छत्रता में पुरुषार्थ के प्रवेश का साक्षी है—संक्रमण। जैन-सिद्धांत-दीपिका में कहा है—**सजातीय प्रकृतिनां मिथः परिवर्तनं संक्रमणा।**[9] संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति का उत्तर प्रकृतियों में ही होता है। संक्रमण यानी परिवर्तन। जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण पूर्व-बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान दूसरी प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, वह संक्रमण है। संक्रमण के क्षेत्र में दो अपवाद हैं—1. आयुष्य कर्म की प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता। 2. दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता। संक्रमण के चार प्रकार हैं—प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रमण, अनुभाग संक्रमण और प्रदेश संक्रमण। संक्रमण की यह प्रक्रिया प्राणीमात्र में स्वयं अपने ही परिणाम, कार्य-कारण के अनुसार स्वतः घटित होती रहती है।

कर्मवाद के अनेक रहस्य हैं। शक्ति का अल्पीकरण और संवर्धन, दोनों संभव हैं। पूर्वोपार्जित कर्मों में सदैव परिवर्तन की प्रक्रिया चालू है। सामान्यतया कोई भी बद्ध-कर्म निरंतर इस प्रक्रिया से गुजरता रहता है। संक्रमण का सिद्धांत पुरुषार्थ का सिद्धांत है। संचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप में और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में बदल जाते हैं। स्थानांग सूत्र की एक चतुर्भंगी इस दृष्टि से मननीय है।[10] यह चतुर्भंगी निम्नानुसार है—

- ❑ कुछ कर्म शुभ होते हैं, उनका विपाक भी शुभ होता है।
- ❑ कुछ कर्म शुभ होते हैं, उनका विपाक अशुभ होता है।
- ❑ कुछ कर्म अशुभ होते हैं, उनका विपाक शुभ होता है।
- ❑ कुछ कर्म अशुभ होते हैं, उनका विपाक भी अशुभ होता है।

यहां एक प्रश्न सहज है कि क्या पुण्य का विपाक पाप और पाप का फल पुण्य संभव है? इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा[11]—'**जाति-परिवर्तन** कर्मवाद का बहुत बड़ा रहस्य है। इसके आधार पर परिवर्तन का सिद्धांत निस्संदेह सत्य है। **पुण्य बंध होता**

है, किंतु बाद में ऐसा सबल पुरुषार्थ किया जिससे उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो परमाणु पुण्य के थे, वे पाप के हो गए। सुख के हेतु दुख के बन गए। इसी प्रकार पुरुषार्थ से पाप के परमाणु पुण्य में जात्यंतर हो गए।'

**मनोविज्ञान और परिवर्तन**—मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूल प्रवृत्तियों के रूपांतरण पर निर्भर है। मनोवैज्ञानिकों ने परिवर्तन की चार पद्धतियों का निरूपण किया है—अवदमन, विलयन, मार्गांतरीकरण, शोधन।

कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन से कर्म-परिवर्तन के अनेक नए रहस्य उजागर हो सकते हैं। परिवर्तन की दृष्टि से आधुनिक जीव-विज्ञान में अनेक नई अवधारणाएं सामने आ रही हैं। वैज्ञानिकों ने संस्कार-सूत्रों (Genes) के परिवर्तन का नया प्रारूप (Genetic Science) में उपलब्ध है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के रूपांतर हेतु अभिवांछित 'जींस' का प्रत्यारोपण अपेक्षित है। मानव शरीर में खरबों कोशिकाएं होती हैं। कोशिका के केंद्रक (Necleus) में 46 गुणसूत्र (Chromosomes) होते हैं। डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. नामक रसायनों से निर्मित ये गुणसूत्र वंशपरंपरा (Heredity) के वाहक होते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र में दस हजार संस्कार-सूत्र (Genes) होते हैं। ये संस्कार-सूत्र संपूर्ण व्यक्तित्व के गुणों को अंतर्निहित किए हुए हैं। 'जींस' के परिवर्तन से शारीरिक, मानसिक परिवर्तन व अनेक रोगों के इलाज की संभावनाएं मूर्त बन सकती हैं। जैव प्रौद्योगिकी के अंतर्गत मानव 'जी नोम' परियोजना, 'जैनेटिक' अभियांत्रिकी, 'जैनेटिक सर्जरी', मानव 'क्लोनिंग' आदि के अध्ययन और अन्वेषण द्रुतगति से हो रहे हैं। 'जींस' के गुणधर्मों के परिवर्तन से मनोवांछित जीवन बनाने का दावा वैज्ञानिक कर रहे हैं।

यहां प्रश्न उठता है कि जब वैज्ञानिक ही जीव के विभिन्न गुणों का निर्धारण करेंगे, तब फिर कर्म-सिद्धांत की क्या उपादेयता होगी? क्या 'जेनेटिक साइंस' कर्मवाद को चुनौती नहीं है? इस संदर्भ में यही कहना उचित होगा कि जैन दर्शन कोरे कर्मों की सत्ता को ही सर्वोपरि नहीं मानता, यहां कर्म के साथ पुरुषार्थ की भी प्रतिष्ठा है। उपादान के साथ निमित्तों की भी अपनी महत्ता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'संक्रमण का सिद्धांत 'जीन' को बदलने का सिद्धांत है।'[12] कर्मों का विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप होता है। व्यक्तित्व निर्माण में कर्मों के साथ-साथ आनुवंशिकता, परिस्थिति, भौगोलिकता आदि का भी योग होता है। मनुष्य के स्वभाव एवं व्यवहार के नियमन में अनेक घटक तत्त्व कार्य करते हैं।

जैन दर्शनसम्मत कर्मवाद की यही विलक्षणता है कि एक ओर जहां निकाचना है, वहीं दूसरी ओर उदीरणा, संक्रमण आदि व्यक्ति के पुरुषार्थ के द्योतक हैं। कर्मों के संपूर्ण क्षयीकरण की प्रक्रिया आत्मा-सत्ता की कर्मों से श्रेष्ठता की प्रतिपादक है। ❖

### संदर्भ सूची :


1. जैन सिद्धांत दीपिका, 4/5
2. पंचसंग्रह, गा. 253
3. भगवई, 1/156
4. भगवई, पृ. 372
5. पंचसंग्रह, गा. 225
6. जीव-अजीव, पृ. 51
7. गोम्मटसार, जीव तत्त्व दीपिका टीका, 438, 591
8. जीव-अजीव, पृ. 51
9. Illuminator of Jain Tenets, पृ. 62
10. ठाणं, 4/603
11. जैन भारती, दिसंबर, 2000
12. कर्मवाद, पृ. 132 ❖❖


**परीषहजय, उपसर्गजय और सल्लेखना** पृष्ठ 19 का शेष


21. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालंपडिदं चेव। बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ।।2।। भग. आरा.
22. मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमऐ बालबालीम्म च ।।29।। भग. आरा.
23. सुत्तोदो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि। सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।।32।। भग. आरा.
24. अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।।29।। भग. आरा.
25. भगवती आराधना गाथा 27 (विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण)
26. पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव। तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस।।28।। भग. आरा.
27. भगवती आराधना गाथा 66-69
28. पण्डिदपण्डितमरणे खीणकसायो मरन्ति केवलिणो।।27।। भग. आरा. ❖❖

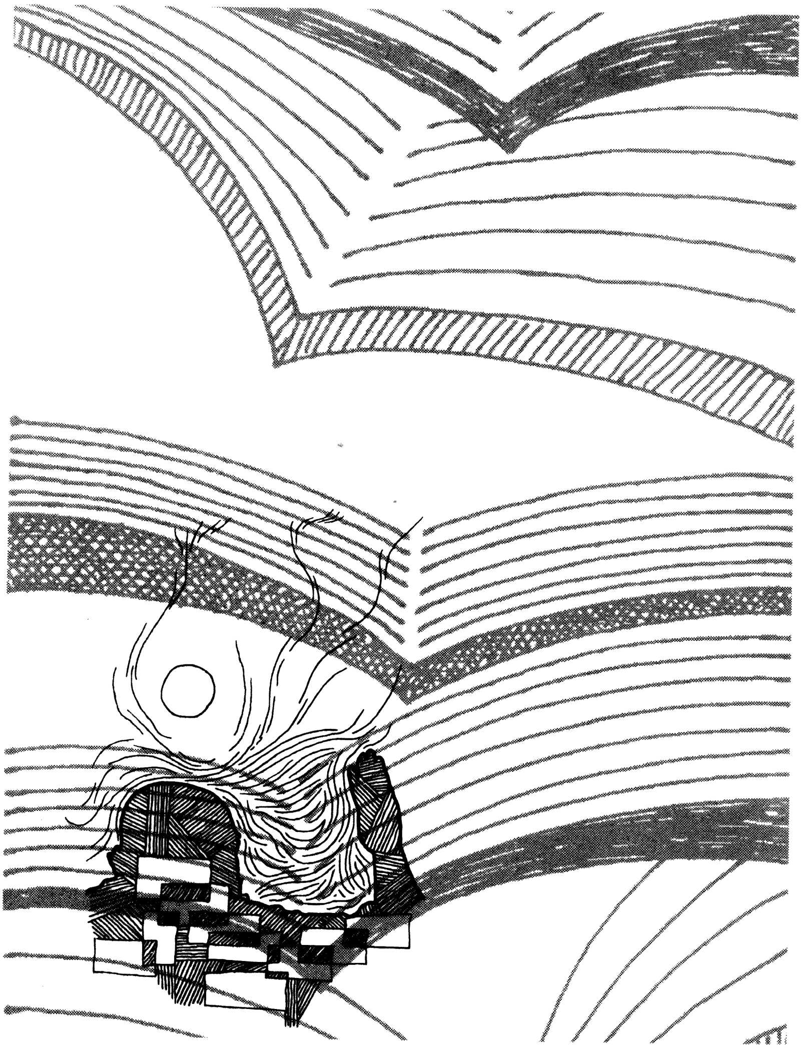

# अनुभूति

झूठ है यह
आदमी इतना नहीं कमजोर है
पलक के जल और माथे के पसीने से
सींचता आया सदा जो स्वर्ग की भी नींव
ये परिस्थितियां बना देगी उसे निर्जीव?
झूठ है यह
फिर उठेगा आदमी

—धर्मवीर भारती

*ऋषभ ने समाज के लिए जो-कुछ किया, वह अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया। वे राजा थे। राजा का अपना दायित्व होता है, अपना कर्तव्य होता है। उसे अपने कर्तव्य और दायित्व का निर्वाह करना ही होता है। तब ऋषभ संन्यासी नहीं बने थे। जो राज-सिंहासन पर बैठा है, जिसने राज्य का दायित्व ओढ़ा है, उसे प्रजाहित की बात सोचनी ही पड़ती है। ऋषभ ने भी वैसा ही किया। उन्होंने प्रजाहित के लिए सुंदर मार्गदर्शन दिया। वे प्रजाहित में कार्य करते चले गए। राजा का अपना हित नहीं होता। वास्तव में राजा वही होता है जिसका चिंतन प्रजाहित में हो। प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित होता है। यदि लोकतंत्र के संदर्भ में देखें तो शासक का अपना हित नहीं होना चाहिए। जहां शासक का अपना हित होता है, वहां शासनतंत्र गड़बड़ा जाता है। ऋषभ के सामने भी यह अहम प्रश्न था। उन्होंने प्रजाहित का अतिक्रमण नहीं किया। उन्होंने सारी शक्ति प्रजाहित में लगा दी। जनता को प्राथमिक आवश्यकताओं के साधन सुलभ हो गए। असि, मसि, कृषि का विकास होने लगा।*

# समाज-व्यवस्था और ऋषभ

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

**तीर्थंकर ऋषभ के तप का स्मरण करते हुए अक्षय तृतीया पर विशेष**

जब तक कर्तव्य और धर्म का विवेक स्पष्ट नहीं होगा तब तक समाज समस्याओं से घिरा रहेगा। आज यह समस्या बड़ी विकराल है। आज कर्तव्य और धर्म का विवेक स्पष्टतः नजर नहीं आ रहा। आचार्यश्री भिक्षु ने कर्तव्य और धर्म के विवेक का पुनर्जागरण करने के अनथक प्रयास किए। कर्तव्य और धर्म के विवेक की पुनःस्थापना के उनके प्रयास सफल भी हुए। उन्होंने बहुत स्पष्टता से यह प्रतिपादन किया कि कर्तव्य अलग है और धर्म अलग है।

आदिकाल में ऋषभ राजा बने। उन्होंने सबसे पहले सोचा कि प्रजा के प्रति मेरा दायित्व क्या है? राजा का अपना कर्तव्य होता है। उन्होंने अपने दायित्व का निश्चय किया और प्रजा की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर अपना ध्यान केंद्रित किया। सबसे पहली आवश्यकता होती है भोजन की। भोजन की पूर्ति तत्समय में समस्या का रूप ले रही थी। तब कल्पवृक्षों पर निर्भरता थी और उन से जो-कुछ मिलता था, उससे जीवन का काम चलना कठिन हो गया था। भगवान ऋषभ ने इस समस्या को सुलझाने का संकल्प किया। उन्होंने लोगों को खेती करना सिखाया। लोगों ने खेती करना प्रारंभ कर दिया और अनाज पैदा होने लगा। लोगों ने पहली बार अनाज देखा। खाद्य पदार्थों की समस्या सुलझने लगी। तब अनाज को पकाने का न साधन उपलब्ध था और न ही उसको पकाने का बोध था। कच्चा अनाज लोग पचा नहीं सके। फिर एक नई समस्या पैदा हो गई। जिस भूमि पर पहली बार अन्न उपजा, वह कितना शक्तिशाली रहा होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। लोग ऋषभ के पास आए और निवेदन किया—महाराज! हमने अनाज खाया, किंतु अनाज पचता नहीं है। हम क्या करें? ऋषभ ने कहा—तुम अनाज को हाथ से मलकर

खाओ, उसके छिलके उतार कर खाओ, उसे जल से धोकर खाओ। लोगों ने वैसा ही किया। फिर भी वे अनाज को पचा नहीं पाए।

### समाज विकास का आधार

एक दिन ऐसा हुआ कि जंगल में अनायास एक रोशनी दिखाई दी। लोग उस ओर दौड़ पड़े। सोचा—यह क्या है? उन्होंने ऐसा कभी देखा नहीं था। उन्होंने उसमें हाथ डाला। हाथ जल गए, असह्य पीड़ा हुई। वे दौड़े-दौड़े ऋषभ के पास पहुंचे। बोले—महाराज! न जाने जंगल में क्या आया है? हमारे हाथ जल गए हैं। ऋषभ ने अपने अतींद्रिय ज्ञान का प्रयोग किया। उन्होंने जाना—अग्नि पैदा हो गई है।

समाज के विकास का सबसे बड़ा साधन है—अग्नि। अगर मानवीय विकास के इतिहास से अग्नि को निकाल दें तो समाज का विकास समाप्त हो जाता है। अगर विद्युत् को निकाल दिया जाए तो वैज्ञानिक युग का अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। अग्नि और विद्युत्—ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनके आधार पर समाज का विकास टिका हुआ है। अग्नि की उत्पत्ति का कारण है—स्निग्ध और रुक्ष-काल का योग। एकांत स्निग्धकाल और एकांत रुक्षकाल में अग्नि पैदा नहीं होती। ऋषभ ने सोचा कि अब स्निग्धरुक्ष काल आ गया है इसलिए अग्नि पैदा हो गई है। कहा भी—

**स्वाम्यप्यूचं**
**स्निग्धरुक्षकालादेषोग्निरुत्थितः।**
**नैकान्तरुक्षे नैकान्तस्निग्धे**
**काले भवत्यसौ।।**

माना ही गया है कि नेगेटिव और पॉजीटिव के योग से विद्युत् पैदा होती है। इस सिद्धांत को जैन लोगों ने हजारों वर्ष पहले समझ लिया था। जब तक काल, स्निग्ध और रुक्ष नहीं था, तब तक ऋषभ भी अग्नि पैदा नहीं कर सके थे। जब तक वातावरण में 'पॉजीटिव' और 'नेगेटिव' का योग नहीं होता तब तक विद्युत् पैदा नहीं हो सकती।

ऋषभ ने कहा कि यह जो रोशनी दिखाई दे रही है, वह आग है। इससे खाने की समस्या का समाधान हो

### वर्षीतप और पारणा

भगवान ऋषभ एक वर्ष से भी अधिक समय निराहार विचरते रहे। एक बार वे हस्तिनापुर पधारे। वहां बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ राज्य करते थे। उनके पुत्र श्रेयांस ने प्रपितामह (ऋषभ) के आगमन की बात सुनी तो वे तत्काल राज-भवन से बाहर आए और भगवान के चरणों में वंदन किया। उन्हें मुनिरूप में देख कुछ 'ऊहापोह' हुआ और तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व भव में अपनी साधुता और अपनी समग्र चर्या श्रेयांस के सामने स्पष्ट हो गई।

श्रेयांस के प्रासाद में ताजे इक्षुरस से भरे हुए एक सौ आठ घड़े थे। उस समय वही शुद्ध पदार्थ था और उसे ग्रहण करने के लिए बड़े श्रद्धासिक्त भाव से श्रेयांस ने प्रार्थना की। भगवान कर-पात्री ही थे। सर्वथा शुद्ध आहार देखकर उन्होंने इक्षुरस ग्रहण किया। एक वर्ष और चालीस दिनों की लंबी अवधि के बाद उन्होंने पारणा किया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था।

प्रथम दानदाता बन कर श्रेयांस ने अक्षय पुण्य तथा यश का अर्जन किया। वह दान भगवान के महान तप की संपन्नता में सहायक बन कर सदा-सदा के लिए अक्षय बन गया। इसलिए इस तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इस दिन इक्षुरस का दान दिया गया था, अतः इसे इक्षु तृतीया भी कहा जाता है। यह दिन अब एक महत्त्वपूर्ण पर्व के रूप में प्रतिष्ठित है। यह दिन किसी भी शुभ कार्य को शुरू करने के लिए स्वतःसिद्ध शुभ मुहूर्त भी माना जाता है।

भगवान ऋषभ ने संकल्पपूर्वक वर्ष-भर के लिए तप प्रारंभ नहीं किया था। वह तो अनभिज्ञता के कारण शुद्ध आहार न मिलने से स्वतः ही हो गया था। वर्तमान का वर्षीतप वर्ष-भर के लिए संकल्पपूर्वक किया जाता है। भगवान का तप चैत्र कृष्णा अष्टमी से प्रारंभ हुआ। पारणा अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को पूरा हुआ। वर्तमान के वर्षीतप का संकल्प वैशाख शुक्ला तीज को ग्रहण किया जाता है और आगामी दिन से प्रारंभ होकर अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला तीज को ही संपन्न होता है। भगवान का वर्षीतप निराहार था। वर्तमान वर्षीतप एकांतर उपवास के रूप में होता है। कोई चाहे तो बीच-बीच में एक उपवास से अधिक तप भी कर सकता है। अक्षय तृतीया का यह पर्व आत्म-शोधन की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वर्ष-भर एकांतर तप करना भी व्यक्ति की अनासक्ति, सहिष्णुता, धैर्य, दृढ़ मनोबल एवं गहरी आस्था का प्रतीक है।

सकता है। अनाज को अग्नि में पका कर खाया जा सकता है। अनाज को अग्नि में डाला गया। वह पका नहीं, जल गया। लोग पुनः भगवान के पास आए। उन्होंने निवेदन किया—महाराज! समस्या का समाधान तो नहीं हुआ। सारा अनाज जल कर भस्म हो गया।

## आधार और आधेय का पहला संबंध

ऋषभ ने कहा—'ऐसे नहीं पकेगा अनाज।'

प्रश्न था—'हम कैसे पकाएं अनाज को?'

ऋषभ लोगों के साथ गए। उन्होंने कहा—'मिट्टी खोदो?' लोगों ने मिट्टी खोद डाली।

फिर कहा—'इसमें पानी डाल कर इसका मर्दन करो?' लोगों ने ऋषभ के कथन के अनुसार मर्दन किया। फिर कहा—'इसका चाक बनाओ।'

वह भी बन गया। उन्होंने चाक से घड़ा बनाने की विधि समझाई। उस विधि से लोगों ने घड़ा तैयार कर लिया। फिर घड़े में अनाज डालने को कहा। प्रजा ने घड़े को अनाज से भर दिया। फिर कहा—'इसे आग पर रखो।'

घड़े को आग पर रखा गया और अनाज पकना शुरू हो गया।

पहली बार आधार और आधेय के संबंध का विश्वास हुआ। इससे पहले न कोई आधार था और न कोई आधेय था। घड़ा आधार है और जो उसमें है, वह आधेय है। आधार को आधेय का संबंध मिला और इसी के साथ एक समस्या का भी समाधान मिल गया।

## प्रवृत्ति का चक्र

एक समस्या सुलझी, परंतु दूसरी समस्या उत्पन्न हो गई। ऐसा लगता है कि ऋषभ का वह काल नित नई समस्याओं को सुलझाने का काल था। प्रतिदिन नई समस्या आती और प्रतिदिन उसका समाधान खोजा जाता। घड़ा बन गया, अनाज भी पैदा हो गया। सब जगह अनाज भी नहीं होता। सोचा गया कि जहां अनाज नहीं होता है, वहां लोग भूखे मरेंगे। उन तक अनाज कैसे पहुंचाया जाए? इसके समाधान स्वरूप गाड़ी का निर्माण हुआ होगा। माना जाता है कि जिस दिन पहिया बना, उस दिन मानव-समाज का भाग्योदय हुआ। पहिया हमारी गति का आधार है। गति में त्वरा आ गई। एक आदमी कितना तेज चल सकता है? पर, पहिया तेज गति और भार ढोने का एक माध्यम बन गया। फिर गाड़ी बनाने का प्रसंग सामने आया। पहला शिल्पी कुम्हार बना और दूसरा शिल्पी बना—सुथार। गाड़ी का निर्माण हुआ। इस प्रकार धीरे-धीरे शिल्प-कर्मों का विकास होता चला गया।

एक नियम है कि जैसे-जैसे प्रवृत्ति बढ़ेगी, वैसे-वैसे कर्म बढ़ेगा और समस्याएं भी साथ-ही-साथ बढ़ेंगी। ऋषभ ने प्रवृत्ति और कर्म का एक चक्र शुरू कर दिया।

उन्होंने तीन दिशाओं में विकास को गति दी—

बहत्तर कलाओं का विकास, चौसठ स्त्री-कला का विकास, सौ शिल्प-कर्म का विकास।

## सावद्य कार्यों का प्रवर्तन क्यों

प्रश्न होता है कि ऋषभ ने ये सब कार्य क्यों किए? जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के सूत्रकार के मन में भी यह प्रश्न प्रस्तुत हो गया था कि ऋषभ ने यह सब-कुछ क्यों किया? भगवान ने ये तीनों काम प्रजा के हित के लिए किए, किंतु भगवान ने इन सावद्य कार्यों का उपदेश क्यों दिया? आचार्य हेमचंद्र के सामने भी यह प्रश्न था कि तीन ज्ञान के धारक ऋषभ ने कर्म-बंध के ये सारे काम क्यों किए? उन्होंने इनका प्रवर्तन किसलिए किया? समाज के लिए इनका विकास करना सावद्य है, इनमें आध्यात्मिक धर्म नहीं है। यह जानते हुए भी ऋषभ ने जिन कर्मों का विकास किया, उसका कारण क्या था? वहां आत्मानुकंपा का प्रश्न भी नहीं था। इन सबके प्रवर्तन का उद्देश्य क्या हो सकता है? आचार्य हेमचंद्र ने ही एक समाधान प्रस्तुत किया है—

**एतच्च सर्व सावद्यमपि लोकानुकंपया।**
**स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः।।**

ये सारे कार्य सावद्य हैं, यह जानते हुए भी अपने कर्तव्य को प्रमुखता देकर ऋषभ ने लोकानुकंपा से इन कार्यों का प्रवर्तन किया।

## धर्म और कर्तव्य

जब व्यक्ति कर्तव्य को ओढ़ लेता है और उसका निर्वहन नहीं करता है, तब समस्या पैदा हो जाती है। यह हो सकता है कि व्यक्ति कर्तव्य को न ओढ़े, किंतु कर्तव्य को ओढ़ने के बाद उससे पीछे हटना, उसका निर्वाह न करना उचित नहीं माना जा सकता। गाय का दूध दुहना है, किंतु घास डालते समय व्यक्ति सोचने लग जाए कि

यह काम मेरे से नहीं हो सकता, तो यह व्यक्ति की दोहरी मूर्खता कहलाएगी। जिस व्यक्ति को दूध से कोई मतलब नहीं है, वह ऐसी बात सोच सकता है। जिसे आत्मस्थ रहना है, उसे गाय के खूंटे से बंधने की जरूरत नहीं होती। एक व्यक्ति कहे कि मैं गाय का दूध चाहता हूं, किंतु उसे खाना नहीं खिलाऊंगा, पानी नहीं पिलाऊंगा तो क्या कर्म का बंध नहीं होगा? विवेक जागे बिना ऐसी मूर्खता को मिटाया नहीं जा सकता। व्यक्ति सारे कार्य करना चाहता है, किंतु जहां कर्तव्य के पालन का प्रश्न आता है, वहां उसे पाप की चिंता सताती है। इसे सही समझ नहीं माना जा सकता।

## जरूरी है विवेक

आचार्य भिक्षु ने जो दर्शन दिया और आचार्य हेमचंद्र का जो मंतव्य है, उसमें कोई अंतर नहीं है। आज ऐसे विवेक का जगना आवश्यक है कि जहां यह समझा जा सके कि कर्तव्य अलग होता है और धर्म की आराधना का मार्ग अलग होता है। लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में इसकी बहुत सुंदर मीमांसा की है। उन्होंने कहा है—जब तक लौकिक धर्म और आध्यात्मिक धर्म को अलग-अलग नहीं समझेंगे, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा था कि धर्म अलग है, समाज-नीति और राजनीति अलग हैं। समाज की अपनी आवश्यकताएं और उपयोगिताएं हैं। उनको समाज का व्यक्ति छोड़ नहीं सकता, किंतु जहां धर्म-नीति, राजनीति और समाज-नीति का मिश्रण होता है, वहां हजारों समस्याएं पैदा हो जाती हैं। समस्याओं से मुक्ति इस विवेक से ही संभव है कि धर्म अलग है, राजनीति और समाज-नीति अलग हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रारंभ से ही छोटे बच्चों को सिखाया जाता है कि तीन नीतियां होती हैं—धर्म-नीति, राजनीति और समाज-नीति। ये तीनों अलग-अलग हैं और इनका अपना-अपना कार्यक्षेत्र है।

## ऋषभ : राज्य का दायित्व

ऋषभ ने समाज के लिए जो-कुछ किया, वह अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया। वे राजा थे। राजा का अपना दायित्व होता है, अपना कर्तव्य होता है। उसे अपने कर्तव्य और दायित्व का निर्वाह करना ही होता है। तब ऋषभ संन्यासी नहीं बने थे। जो राज-सिंहासन पर बैठा है, जिसने राज्य का दायित्व ओढ़ा है, उसे प्रजाहित की बात सोचनी ही पड़ती है। ऋषभ ने भी वैसा ही किया। उन्होंने प्रजाहित के लिए सुंदर मार्गदर्शन दिया। वे प्रजाहित में कार्य करते चले गए। राजा का अपना हित नहीं होता। वास्तव में राजा वही होता है जिसका चिंतन प्रजाहित में हो। प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित होता है। यदि लोकतंत्र के संदर्भ में देखें तो शासक का अपना हित नहीं होना चाहिए। जहां शासक का अपना हित होता है, वहां शासनतंत्र गड़बड़ा जाता है। ऋषभ के सामने भी यह अहम प्रश्न था। उन्होंने प्रजाहित का अतिक्रमण नहीं किया। उन्होंने सारी शक्ति प्रजाहित में लगा दी। जनता को प्राथमिक आवश्यकताओं के साधन सुलभ हो गए। असि, मसि, कृषि का विकास होने लगा। जनता का खान-पान, रहन-सहन, व्यापार, व्यवसाय व्यवस्थित बन गया। खेती को जनता तक पहुंचाने के लिए विनिमय का साधन व्यापार हो गया। लोग व्यवसायी बन गए। जब प्रगति बढ़ती है, तब सुरक्षा की भी आवश्यकता होती है। सुरक्षा तंत्र का निर्माण भी हो गया। तीन कार्य संपादित हो गए—कृषि, वाणिज्य और सुरक्षा। चौथा कार्य था—शासन-व्यवस्था। ऋषभ ने शासन की व्यवस्था को भी एक रूप प्रदान कर दिया।

## शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएं सिखलाईं। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की रक्षण विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियां और सुंदरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि-आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया था। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हो गया था। कृषि और गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार शिल्प का आरंभ हो गया था। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को भी जन्म दिया। नख, केश आदि को काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता महसूस हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है कि अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

जब पदार्थ बढ़े, तब परिग्रह के प्रति ममता बढ़ी और संग्रह होने लगा। कौटुंबिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

## अपराधी कौन होता है

इन सारी व्यवस्थाओं के साथ-साथ दंड-नीति का भी विकास हुआ। कुलकरों के समय में हाकार, माकार और धिक्कार—दंड-नीति के ये तीन अंग थे। राजतंत्र के उदय के साथ नई दंड-नीति का विकास हुआ। जैसे-जैसे राजतंत्र में प्रगति हुई, विकास बढ़ा, कारोबार बढ़ा, सुरक्षा तंत्र मजबूत हुआ, वैसे-वैसे जनता का मानस बदलता चला गया। प्रजा में लोभ का भाव बढ़ गया। जब लोभ बढ़ता है, तब सारी बातें बढ़ जाती हैं। लोभ बढ़ता है तो सारे अपराध बढ़ जाते हैं। लोभ सब अपराधों का मूल है। भावात्मक बीमारियों का कारण भी लोभ ही होता है। शरीरशास्त्री कहते हैं कि जब प्रतिरोधात्मक रक्षा प्रणाली और जैविक प्रणाली कमजोर होती है, तब बीमारी पैदा होती है। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत है कि सारी बीमारी पेट से शुरू होती है। आयुर्वेद में लोभ के दो परिणाम बतलाए गए हैं। लोभ से पाचन-तंत्र प्रभावित होता है। जितना लोभ बढ़ेगा, उतना ही पाचन-तंत्र खराब होता चला जाएगा। लोभ का दूसरा परिणाम है—हार्ट की दुर्बलता। जब अपराध बढ़ेगा, तब भी पाचन-तंत्र बिगड़ेगा। पाचन-तंत्र बिगड़ने से मस्तिष्क का तंत्र प्रभावित होगा और आदमी अपराधी बन जाएगा। अपराधी होने के लिए पाचन-तंत्र का बिगड़ना मुख्य कारण बनता है। जिस व्यक्ति का पाचन-तंत्र स्वस्थ है, उसका मस्तिष्क स्वस्थ है। वह व्यक्ति अपराधी नहीं होगा।

## दंड के चार प्रकार

समाज-विकास के साथ-साथ अपराध पनपने लगे। अपराधों की रोकथाम के लिए दंड-नीति को नया आयाम दिया गया। ऋषभ ने चार प्रकार के दंड का विधान किया—

**परिभाषित**—थोड़े समय के लिए नजरबंद करना—क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।

**मंडलीबंद**—इस दंड में अपराधी से कहा जाता कि तुम इस सीमा से बाहर नहीं जा सकते।

**नजरबंद**—बंधन का प्रयोग। इस दंड को पाने वाला व्यक्ति अपने घर से बाहर नहीं जा सकता या अमुक स्थान से बाहर नहीं जा सकता।

**दंड-प्रहार**—दंड-प्रयोग। यह सबसे बड़ा दंड था। भयंकर अपराधी को डंडों से मारना।

ऋषभ के समय में इन चार दंडों का विकास हुआ।

## मृत्युदंड : अमानवीय कृत्य

कारावास और दंड-प्रहार दंड संहिता में मान्य थे, किंतु उस समय मृत्युदंड का विकास नहीं हुआ। मृत्युदंड का प्रचलन कब हुआ? इसे कब मान्यता मिली, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। मृत्युदंड एक प्रकार का अमानवीय कृत्य है। एक ओर इसका विरोध हो रहा है तो दूसरी ओर मृत्युदंड देने का सिलसिला भी जारी है। सारे संसार में यह प्रश्न उभर रहा है कि मृत्युदंड को समाप्त किया जाए। मृत्युदंड से अपराध रुके हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपराधी अपराध करते चले जा रहे हैं और सरकारें उन्हें फांसी पर चढ़ाती चली जा रही हैं। अपराध रोकने की जो दूसरी प्रक्रिया है, उस ओर किसी का कोई ध्यान नहीं जा रहा है। इसे मानवीय कृत्य नहीं कहा जा सकता।

## दंड की नई व्यवस्था

ऋषभ के युग में दंड का जो विधान था, वह इस प्रकार का नहीं था। क्रूरतापूर्ण दंड का विधान नहीं था। पहले अपराधी को यह अनुभव कराया जाता कि तुमने अपराध किया है, गलत कार्य किया है। उसके बाद उसे दंडित किया जाता। जो ज्यादा अपराध करता तो उसे एक स्थान पर बंद कर दिया जाता ताकि वह अपराध नहीं कर पाए। अपराधी को बहुत क्रूर यातनाएं देना, शूली पर चढ़ा देना या उसके शरीर के अंगों को काट देना, अंग-भंग कर देना—ये सभी अमानवीय कृत्य हैं। मानवीय दृष्टि से सोचें तो ये कृत्य उचित नहीं। ऋषभ के समय में जो दंड का विधान था वह समझदारी से परिपूर्ण लगता है। ऋषभ ने अपराधों की रोकथाम भी की और ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया, कि जिससे अपराध भी न बढ़ें तथा मानवीय

क्रूरता को भी प्रश्रय न मिले। उनके इस उपक्रम से दंड की नई व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

## स्त्री-शिक्षा का श्रेय

ऋषभ ने शिक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया। उन्होंने भरत, बाहुबली आदि अपने पुत्रों को पढ़ाया। स्त्री-शिक्षा का सूत्रपात भी उनके द्वारा हुआ। अपनी पुत्री ब्राह्मी को उन्होंने अट्ठारह लिपियां सिखाईं। लिपिकला में आज कौन कुशल है, यह नहीं कहा जा सकता, किंतु ऋषभ ने लिपिकला का अधिकार स्त्रियों को सौंपा। लिपिकला के क्षेत्र में पहला स्थान महिलाओं का है और उन्हें यह स्थान ऋषभ ने प्रदान किया। उन्होंने सुंदरी को गणित विद्या सिखाई। गणित पर भी महिलाओं का अधिकार सुनिश्चित हो गया। स्त्री-शिक्षा के विकास का वह आदि-बिंदु था। हिंदुस्तान के लिए मध्ययुग अंधकार का युग रहा। महाभारत काल के बाद ज्ञान-विज्ञान, कला, सभ्यता आदि का ह्रास होता गया। इन सबके जो ज्ञाता थे, वे महाभारत के युद्ध में मारे गए। ऐसी स्थिति में, महाभारत का युद्ध हिंदुस्तान की विद्याओं के लिए अभिशाप बन गया।

## ऋषभराज्य : रामराज्य

वह एक युग था—जब ऋषभ ने अपने घर को संभाला, अपनी प्रजा को संभाला। उन्होंने किसी को असंतुष्ट नहीं होने दिया। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो यह कह सके कि मेरा विकास नहीं हुआ, मैंने कुछ नहीं सीखा। वह एक ऐसा स्वर्णिम युग था, जिसमें न कोई भिखारी था, न कोई गरीब था और न कोई अमीर था। उस समय सवा सोलह आना समाजवाद था। कल्पना करें कि जिस युग में पूर्ण समाजवाद विकास की ओर अग्रसर था, उस युग की व्यवस्थाएं कितनी सुंदर और सुदृढ़ रही होंगी! आज रामराज्य प्रसिद्धि पा गया। यदि हम रामराज्य और ऋषभराज्य का तुलनात्मक अध्ययन करें तो एक नया प्रकाश मिल सकता है। ❖

---

कुछ क्षण के लिए, आपकी सभी अनुभूतियां और चाह, प्रज्ञान और इच्छाएं, यथार्थ में आपका संपूर्ण स्व, किसी बात में डूबा हुआ है, जिसे अधिक अच्छे शब्द के अभाव में चिंतन या भावातीत ध्यान कहा जा सकता है। ऐसी मनःस्थिति में, अंतर बताने वाली, इंद्रियानुभूतियां गायब हो जाती हैं, और व्यक्तिनिष्ठ एकात्मकता के अनुभव, अचेतन में, वस्तुनिष्ठ दुनिया में स्थानांतरित हो जाते हैं। बुद्धि, जिनका काम हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में एकात्मकता उत्पन्न करना, सभी कृतियों को एक-समान मानना है, और कल्पना जो अर्थ और ज्ञान की बाधाओं से मुक्त है, यह एकात्मकता महसूस करने लगती है।

यह एक ऐसा ही वातावरण है, जिसमें भारतीय मस्तिष्क बढ़ा और विकसित हुआ है, इसलिए स्वाभाविक रूप से उसके दो प्रमुख लक्षण हैं—चिंतन की क्षमता, जो अन्य मानसिक शक्तियों पर प्रभावी रहती है, और विविधता में एकता देखने और महसूस करने की क्षमता। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि विचारों का भारतीय मूल्यों की दृष्टि से हमेशा ऊंचा स्थान रहा है। किंतु यह विशुद्ध अमूर्त या काल्पनिक नहीं, बल्कि भावात्मक विचार थे; अर्थात् केवल ब्रह्मांड की धारणा नहीं, उसका सीधे अंतर्ज्ञान बोध है, जिसमें विचारक उस विचार के उद्देश्य के प्रति प्रेम और आदर में अपने को डूबा हुआ महसूस करता है। ऐसा चिंतन दार्शनिक होने की अपेक्षा धार्मिक अधिक है। यही कारण है कि धर्म-दर्शन ने हमेशा भारत के सांस्कृतिक जीवन में प्रमुख स्थान बनाया है। इसी तरह, ऊपर बताए गए दूसरे लक्षण के कारण, भारतीय मस्तिष्क ने ब्रह्मांड की व्याख्या देने और विचार गढ़ने में विविधता की अभिव्यक्ति को एकता में बदलने का प्रयत्न किया है।

—एस. आबिद हुसैन

*जिस चिकित्सक की संवेदना कर्तव्यपूर्वक रोगी के साथ जुड़ी होती है, वही बिना किसी दबाव के रोगी की चिकित्सा कर सकता है। एक चिकित्सक के भीतर यदि करुणा है, मैत्री है, संवेदना है तो वह अपने क्षेत्र में शिखरीय ऊंचाई तक पहुंच सकता है। चिकित्सकीय यंत्र की जहां पहुंच नहीं होती है, वहां चिकित्सक की करुणा और सद्भावना ही दवा और दुआ के बल पर बीमारी की जड़ों को हिला देती है। इसलिए दवा से भी अधिक चिकित्सक की निष्ठा और कर्तव्य का मूल्य है।*

# उपचार : दवा और दुआ से

साध्वी दर्शनविभा

**विश्व स्वास्थ्य दिवस पर विशेष**

मगध के राजवैद्य श्रीदत्त ने चिकित्सा के क्षेत्र में अपूर्व सफलता हासिल कर रखी थी। वे शल्य क्रिया में भी निष्णात थे। अनेक असाध्य बीमारियों का उपचार कर अनेक जनों को जीवनदान दे चुके थे। विदेह की राजकुमारी के नए नेत्र ही स्थापित किए थे। आंत्रक्षय से पीड़ित एक शूद्र के नए आंत्र स्थापित कर उसे भी रोग-मुक्त कर दिया।

एक दिन वे अपने कुटीर में बैठे थे। आयुर्विज्ञान के एक ग्रंथ का लेखन कार्य चल रहा था। शिष्य विपुलक ने अचानक आकर सूचना दी—गुरुदेव! एक बाल रोगी अत्यंत गंभीर स्थिति में है। उसे तत्काल रक्त संचयन नहीं किया गया तो अनिष्ट की संभावना को नहीं रोका जा सकता। गुरु ने पूछा—'उसकी जाति क्या है?' उत्तर था—'ब्राह्मण।' 'तब किसी ब्राह्मण के रक्त की व्यवस्था करो।' शिष्य ने कहा—'गुरुदेव, मैं सारी तैयारी कर चुका हूं। बस आपकी उपस्थिति ही शेष है।'

राजवैद्य अपने शिष्य के साथ चिकित्सालय की ओर चल पड़े। अचानक आरोग्यशाला के पास सम्राट का रथ आकर रुका। रथ से सम्राट का मंत्री व्यग्रता के साथ उतरा। प्रकंपित स्वर में बोला—'महात्मन! शीघ्रता से राजभवन में पधारें। युवराजश्री को सर्प ने काट लिया है। वे जन्म और मृत्यु के बीच झूल रहे हैं।'

वैद्य के सामने दुविधा की स्थिति खड़ी हो गई। एक ओर राजकुमार, दूसरी ओर एक बालक! वैद्यजी ने अपने शिष्य विपुलक से पूछा—'बालक की क्या स्थिति है।' विपुलक ने कहा—'एक घटिका में रक्त संचयन नहीं किया गया तो कोई भी ताकत उसे बचा नहीं सकेगी। मंत्री से पूछा—'राजकुमार की क्या स्थिति है?' मंत्री ने कहा—'मूर्च्छा बढ़ रही है। आप शीघ्रता करें। सम्राट और महारानी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

राजवैद्य ने दो क्षण चिंतन किया। तत्काल अपना निर्णय देते हुए कहा—'आयुष्मन! मैं एक औषधि दे रहा हूं, उसे युवराज के मुंह में दे देना। बार-बार गाय का घी पिलाते रहना। मैं एकाध घटिका में पहुंच रहा हूं। महाराज से निवेदन करना—चिंता न करें। मैं आ रहा हूं।' मंत्री ने कहा—'आप स्वयं पधार कर राजकुमार का उपचार करें।' राजवैद्य ने कहा—'आयुष्मान! एक बालक गंभीर अवस्था में है। उसका उपचार आवश्यक है।' मंत्री ने कहा—'आप गहराई से सोचें। आप युवराज की जिंदगी की अपेक्षा एक नादान बच्चे को महत्त्व दे रहे हैं। राजा की आज्ञा का उल्लंघन आपके लिए भारी पड़ सकता है।'

राजवैद्य ने कहा—'मंत्रीवर! वैद्य की नजरों में न कोई सम्राट, न कोई कंगाल। उसके लिए सब रोगी समान हैं। रोगी रोगी होता है, वह न सम्राट होता है, न गरीब। इसलिए आप यह पुड़िया ले जाकर उपचार प्रारंभ कर दें।'

मंत्री ने कहा—'महात्मन! आपको अभी राजकुमार

के जीवन को प्राथमिकता देनी चाहिए।' यह सुन सदा शांत रहने वाले वैद्य कुछ उत्तेजित होकर बोले—'मेरे लिए सबकी जिंदगी का समान मूल्य है। मैं किसी के दबाव में आकर अपने धर्म को, कर्तव्य को ताक पर नहीं रख सकता।'

यह घटना एक आदर्श चिकित्सक का रूप प्रस्तुत करती है। रोगी और चिकित्सक के बीच के रिश्ते को स्पष्ट करती है। जिस चिकित्सक की संवेदना कर्तव्यपूर्वक रोगी के साथ जुड़ी होती है, वही बिना किसी दबाव के रोगी की चिकित्सा कर सकता है। एक चिकित्सक के भीतर यदि करुणा है, मैत्री है, संवेदना है तो वह अपने क्षेत्र में शिखरीय ऊंचाई तक पहुंच सकता है। चिकित्सकीय यंत्र की जहां पहुंच नहीं होती है, वहां चिकित्सक की करुणा और सद्भावना ही दवा और दुआ के बल पर बीमारी की जड़ों को हिला देती है। इसलिए दवा से भी अधिक चिकित्सक की निष्ठा और कर्तव्य का मूल्य है।

चिकित्सक कैसा होना चाहिए? इस संदर्भ में मिस्र के इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो वहां चिकित्सक का एक आदर्श रूप उभर कर सामने आता है। वहां चिकित्सक के रूप में इम्होतेप का उल्लेख मिलता है। वे केवल चिकित्सा के क्षेत्र में ही दक्ष नहीं थे, ज्योतिर्विद्, वास्तुशिल्पी और राज-मर्मज्ञ भी थे। वे रोगी की आत्मीय भाव से चिकित्सा करते थे। उसी का ही परिणाम था कि उनकी मृत्यु के बाद उनके सम्मान में स्थान-स्थान पर उनके स्मारक बनाए गए और उनका नाम 'आरोग्य मंदिर' रखा गया। उनमें कुशल वैद्य और पुरोहित रहते, जो जनता की सेवा करते।

यूनान के इतिहास में हिप्पोक्रेट्स सबसे अधिक प्रसिद्ध चिकित्सक हुए। इनके समय चिकित्सा के क्षेत्र में उतरने वाले व्यक्ति शपथ ग्रहण करते कि वे अपने व्यवसाय के आदर्शों के प्रति निष्ठावान रहेंगे। आज भी इस प्रतिज्ञा के साथ ही वे अपने कार्य को संपादित करते हैं।

भाष्य साहित्य में हमें चिकित्सक का एक आदर्श रूप उपलब्ध होता है। इसमें लिखा है कि कुशल चिकित्सक कौन होता है—'जो चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञाता हो, अनेक बार रोगी और औषध प्रयोग का प्रत्यक्ष द्रष्टा हो, अपने कार्य में दक्ष हो, पवित्र हो, उसके मन में रोगी के प्रति सहज सहानुभूति और संवेदना हो।'

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हम चिकित्सक और चिकित्सा पद्धति की समीक्षा करें तो ह्रास और विकास का असंतुलित रूप उभर कर सामने आता है। आज व्यक्ति ने शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता हासिल की है। वह शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम रुग्ण अवयव को निकाल कर उसके स्थान पर कृत्रिम अवयव का रोपण कर सकता है। चिकित्सा की किसी भी जोखिमभरी यात्रा में वह पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कूद पड़ता है और प्रायः सफलता ही प्राप्त करता है। जीवन की आशा छोड़ देने वाले व्यक्ति को भी एक बार जीवनदान देने की क्षमता रखता है। चिकित्सा विधि के ज्ञान में आज व्यक्ति ने शिखरीय ऊंचाई को छुआ है, लेकिन जीवन का दूसरा पक्ष, जो भावनात्मक विकास का है, उस पक्ष की ओर ध्यान देते हैं, तो वह पक्ष बहुत बौना दिखाई देता है। करुणा और संवेदना का रस सूख गया है। चिकित्सा इतनी महंगी बनती जा रही है कि वह सामान्य व्यक्ति के लिए तो सुलभ ही नहीं है। धन ही एक चिकित्सक के जीवन का जैसे मुख्य लक्ष्य बन गया है। सेवा-भावना जैसा दुर्लभ तत्त्व उसके जीवन से निकल चुका है।

अनेक बार ऐसी घटनाएं सुनने और देखने को मिलती हैं कि रोगी ऑपरेशन थिएटर में पहुंच चुका है, वह जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहा है, लेकिन डॉक्टर की टेबल पर जब तक पैसा नहीं पहुंच जाता है, तब तक वह अपनी चिकित्सा प्रारंभ नहीं करता। इस बीच रोगी भले अपनी अंतिम यात्रा के लिए प्रस्थान कर दे। कभी यह भी बात सामने आती है कि जिस रोग का उपचार चार दिनों में हो सकता है, पैसों के लोभ में उसका दस दिन तक उपचार चलाया जाता है।

ये सब तथ्य इस बात को उजागर करते हैं कि चिकित्सक के मानस से सेवा, संवेदना, करुणा जैसे तत्त्व निकल गए हैं। मात्र पैसों का लोभ उसे अपने कर्तव्य से विचलित कर रहा है। यद्यपि ऐसा सर्वत्र नहीं है, इस अंधकार पक्ष में भी कहीं से उजाले की किरण भी नजर आती है और इसी कारण एक चिकित्सक को ईश्वरीय क्षमता का प्रतीक माना जाता है।

ऐसा व्यापक स्तर पर नजर आए—इसके लिए आज अपेक्षा है, भावात्मक विकास की। आज बौद्धिक विकास की ओर ही सारी दृष्टि केंद्रित हो गई है।

शेष पृष्ठ 45 पर

*न मालूम कहां से एक बीमार-बीमार-सा बालक स्वप्न के पैरों पर आकर गिर पड़ा। उसका सिर मुंडित था और उसने सिर्फ गमछा पहना हुआ था। उसे सिर्फ पैरों पर गिरकर ही संतोष न हुआ...दोनों हाथों से स्वप्न के पैर पकड़ वो विलाप करने लगा—'बाबू साहब, मुझे मत मारना बाबू, मुझे मत मारना बाबू, मैं अब और चोरी नहीं करूंगा, मैं मां काली की शपथ लेकर कहता हूं, ...बाबू साहब, मुझे मत मारो...तुम अपने दल-बल को मना कर आओ बाबू...मैं अब जीवन में कभी भी ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा।'*

# स्वप्न का मुक्तिदल और कालीपद

नवनीता देवसेन

उस बार छुट्टी में स्वप्न, मां के साथ दादा-दादी के घर गया था—सोनाफूलि गांव। दादा-दादी के घर एक बड़ा-सा बागीचा है। अब तो वह बागीचा असल में बंजर हो चुका है। झाड़-झंखाड़ भरे पड़े हैं, कुछ फल-फूल के पेड़ भी हैं, लेकिन फूलों की बहार नहीं है। केवल हरसिंगार और चांदनी है, मधुमालती और एक सुन्दर-सी चमेली की लता, रसोईघर के छप्पर पर कुम्हड़े की लता के पास फैल गई है। लेकिन, स्वप्न को बागीचा बहुत अच्छा लगता है। दादी-दादा बूढ़े हैं, उनके घर में कोई बच्चा नहीं है। स्वप्न के साथ खेलने वाला कोई संगी-साथी नहीं। मां केवल दादी के साथ बातें करती हैं और दादा तो पुरोहित हैं। गांव के राधा-कृष्ण मंदिर की पूजा में उनके दिन बीत रहे हैं। स्वप्न हमेशा हाथ में एक छड़ी लिए अकेले-अकेले बागीचे में घूमता रहता है। एक बार चांदनी के सारे पेड़ों पर छड़ी घुमाते-घुमाते, फूल झराते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर दौड़ गया। फिर उसे खयाल आया जगदीश बोस के आविष्कार का—पेड़-पौधों में भी चेतनाशक्ति होती है।...कौन जाने छड़ी मारने पर उन्हें पीड़ा होती है या नहीं? फिर स्वप्न पेड़ों पर हाथ फेरते हुए दक्षिण से उत्तर की तरफ दौड़ गया। ऐसा क्या है? बागीचा नहीं है, लेकिन बागीचे के बीचोबीच पत्थर रख-रख एक रास्ता बनाया गया है...बड़े-बड़े चौकोर पत्थर पास-पास रख दिए गए हैं, पत्थरों के बीच की खाली जगह पर छोटी-छोटी घास उग आई है और काई जम गई है, जिसके फलस्वरूप हरेक पत्थर के बीच की खाली जगह पर हरे रंग की आउटलाइन उभरती प्रतीत होती है। पूरा दृश्य स्वप्न को बेहद खूबसूरत लगा। पत्थरों पर स्वप्न टहलता नहीं, कूद-कूदकर इक्का-दुक्का खेलते हुए चलता है। एक पत्थर छोड़ दूसरे पर जा खड़ा होता है और फिर उसे छोड़ तीसरे पर जा खड़ा होता है...इसी तरह। फिर गिनता है कि कितनी बार कूदा। दो, तीन, चार। उसने गिना है कि चांदनी के पेड़ से अमरूद के पेड़ तक जाने में पंद्रह बार कूदना पड़ता है। कभी कूदना छोड़कर हिसाब करते हुए चलने लगता है। एक पत्थर पर एक बार पैर रखने का नियम है। दो बार पैर रखने से खेल नहीं चलेगा। इस खेल के लिए बड़ी दूर-दूर पैर रखने पड़ते हैं। इस तरह चलने पर तीस बार पैर रखने की जरूरत पड़ती है। कहना चाहिए तीस बार कूदना पड़ता है। इसके बजाय तो यही आसान है। कहीं-कहीं दो-एक पत्थर कुछ टूटे-से हैं, छोटे-छोटे। वहां पैर रखना कठिन नहीं। उसी तरह जो बहुत चौड़े हैं, उन्हें पार करना काफी मुश्किल है। स्वप्न अपने मन से खेल बनाता रहता है। जैसे उस अमरूद के पेड़ की नीचे वाली डाल पर—जिसमें बैठकर झूला जा सकता है, बैठकर सोचता है—ये है बेबीलोन का हैंगिंग गार्डन—झूलेवाला

**कहानी**

उद्यान—कैसे अद्‌भुत, अपरिचित फूल खिले हुए हैं यहां, कैसे-कैसे स्वर्गिक पक्षी यहां डाल-डाल पर बैठे हैं और पूंछ हिला-हिला बागीचे को अद्‌भुत सौन्दर्य प्रदान किए दे रहे हैं, कैसी-कैसी रंगीन तितलियां फूलों पर उड़ रही हैं। फूलों की कैसी अद्‌भुत सुगंध हवा में बिखरी हुई है...आंख बन्द कर स्वप्न ने सचमुच ही गंध ली। फिर कूदकर दौड़ते हुए वह घर पहुंचा—'दादी, दो लड्डू दो ना।'

कभी स्वप्न जाम के पेड़ की सबसे ऊंची वाली डाल पर चढ़कर जा बैठता। पूरे बागीचे में सबसे ऊंचा पेड़ यही है। इस पर चढ़कर पूरा गांव देखा जा सकता है। स्वप्न सोचने लगा—यह तो मानो न्यूयार्क हो। ऊंचे-ऊंचे सारे पेड़ उसे स्क्राइस्क्रेपर बिल्डिंग (आकाशचुम्बी महल) जैसे लगते। और जाम का यह पेड़ एंपायर स्टेट बिल्डिंग लगता—ईश! यहां एंपायर स्टेट बिल्डिंग की छत पर हवा का कैसा ठंडा झोंका आया। स्वप्न गुड़ीमुड़ी हो बैठा, दाहिने हाथ से डाल पकड़ बाएं हाथ की गोल मुट्ठी बना दूरबीन की तरह मुट्ठी आंख पर रख बोला—'वो देखो, वो दिखाई पड़ रहा है वाशिंगटन'—कह बादल वगैरह के घर की ओर देखा। फिर मुंह और भी सूक्ष्म बना बोला, 'अरे! कैसा क्लियर वेदर (साफ मौसम) है, बिल्कुल शिकागो तक दिखाई पड़ रहा है।' कह कर एकाग्र भाव से माखनों के घर की तरफ देखने लगा। उनकी बांस की मचान पर बड़ी-बड़ी लौकी लगी हुई है। और फिर और दूर-दूर देखूंगा सोच, सनातनो के धान के खेत पर बैठे टुइयां तोते की ओर देखकर बोला—'और वो देखो, कितना सुंदर दिख रहा है हालीउड।' एकदम स्वाभाविक स्वर में बोल स्वयं ही हल्के-से हंस दिया। फिर फिसलते हुए, नीचे पहुंचते हुए सोचा—आह! हेलीकॉप्टर पर चढ़-उतर रहा हूं। या शायद यह लिफ्ट है। सोचते-सोचते पैर धरती पर आ पहुंचे। स्वप्न फिर घर की ओर चला—'दादी, मूड़ी (मुरमुरा) बनाओ।'

पलाश का एक पेड़ है, उसमें एक भी पत्ता नहीं है, उस पर चढ़ना निश्चय ही आसान है। उसकी एक मजबूत चौड़ी शाखा पर चढ़ स्वप्न लेट गया, डाल झुक कर मुड़ गई। स्वप्न सोचने लगा, ऐसा ही होगा केप केनेडी। यह है स्पेस रॉकेट चांद पर पहुंचने के लिए...अभी थोड़ी देर में ही छोड़ा जाएगा—'हलो, रेडी, टेन, नाइन, एट, सेवन, सिक्स, फाइव, फोर, थ्री, टू, वन, जीरो, जू...मम।' ठीक उसी तरह जैसे कॉमिक्स में लिखा रहता है। डाल मानो शून्य आकाश में अलग झूल रही हो—ऊपर और ऊपर...और ऊपर...बहुत ऊपर चली गई...बादलों को भेद कर ऊपर चली गई...पृथ्वी यहीं नीचे छूट गई...सफेद काले संगमरमर के पत्थरों के थाल की तरह अंधकार काले पत्थरों की फर्श पर फैला रहा। एकदम उसी समय एक काली चींटी ने स्वप्न के बाएं पैर पर काट लिया। ऊ-ई ई ई—धत्—और स्वप्न का रॉकेट अभियान बिगड़ गया। खैर छोड़ो, अब दादी के पास चला जाए...शायद लड्डू बन गए होंगे। दादा के घर में स्वप्न के पास सिर्फ यही एक काम है। बागीचा और रसोईघर। रसोईघर और बागीचा। इसके अलावा बागीचे के पीछे बरगद का एक पेड़ है, जिसकी शाखाओं से जड़ें नीचे लटक रही हैं। कोई नहीं जानता, वटवृक्ष कितना पुराना है। निश्चय ही शिवपुर बोटैनिक्स (वानस्पतिक) के अरण्य के प्रमाण में खड़े वटवृक्ष से बड़ा तो नहीं ही है। और भी बहुत-सारी जड़ें शाखाओं से लटक रही हैं, हालांकि सारी की सारी जड़ें उस मोटे तने वाले वृक्ष से ही नीचे झूल रही हैं, कुल उनतीस जड़ें शाखाओं पर से लटक रही हैं—अर्थात् जो धरती तक पहुंच गई हैं। और बहुत-सारी छोटी-छोटी सूखी-सूखी जड़ें आस-पास गड़ी हुई हैं, थोड़ी-सी गिनकर ही उसका सिर चकरा गया। इस पेड़ से स्वप्न की बड़ी मित्रता हो गई है। यहां पर भी वो एक अद्‌भुत खेल खेलता है। मोटे तने पर एक साफ-सुथरा छेद है, सांप-वांप तो उसमें रह ही नहीं सकते, बिल्कुल अच्छी तरह अंदर तक दिखाई पड़ता है—धूल-मिट्टी और सूखे पत्तों से भरा हुआ तल, ऊपर की निचली छत की तरफ भी दिखाई पड़ता है। वहां पर मकड़ी का छोटा-सा जाला लगा हुआ था, स्वप्न ने उसे पत्तों से भरी एक शाखा लेकर साफ कर दिया है। कभी-कभी स्वप्न उस छेद में घुस, दुबक कर बैठ जाता है। बैठकर कोलकाता की पान-बीड़ी की दुकान लगा लेता है। लटकती हुई जड़ें बनती हैं उसकी खरीददार। स्वप्न स्वयं कहता—

—'दो पान देना तो।'

—'ठहरिए बाबू साहब, पहले मीठा पत्ता लगा दूं'...

—'नमकीन का एक पैकेट...'

—'ये रही तीन चारमीनार और एक दियासलाई...बाबू साहब कहां गए?'

—'दो बीड़ी दीजिए...'

—'ये रही दो बीड़ी।'

पान की दुकान, पान की दुकान का खेल खूब बढ़िया जमता है।

और भी एक खेल है वटवृक्ष का। वहीं खेला जाता है, लेकिन उसमें उस छेद की जरूरत नहीं होती। वटवृक्ष के नीचे जो ऊंचा-सा टीला है, उस पर सीधे खड़े हो दोनों आंखें संकुचित कर चारों तरफ देख स्वप्न सोच लेता—ये है गढ़ मैदान (एस्पलानेड)। आज इस मैदान में बड़ी जनसभा होगी। हरेक दल अपना-अपना योगदान करे। वटवृक्ष की शाखाओं से लटकती जड़ें हजारों की भीड़ मानी जाती, यानी हजारों श्रोता। और टीला मंच माना जाता। स्वप्न बनता प्रधान वक्ता। स्वप्न हल्के-से खंखार कर बोलना शुरू करता—'भाइयो और बहनो! आज पंद्रह अगस्त है। इस शुभदिन में हम सब यही कसम करेंगे कि जिस रोज तक जिंदगी है उस रोज तक भारत के लिए हम सबको जान देना कबूल हो चुका है।'

—'जान कबूल, जान कबूल।'

—'भाइयो और बहनो, बोलो—जयहिंद।'

—'जयहिंद।' 'बोलो—भारत माता की जय।'

—'भारत माता की जय।' 'बोलो वंदेमातरम'...

—'वं-दे-मा-त-र-म'—एक बार अकेले, फिर जोर से अकेले-अकेले पचास हजार लोगों की आवाज निकाल स्वप्न थक गया। उसे बड़ी प्यास लगी। स्वप्न रसोईघर के बरामदे की तरफ दौड़ गया...जहां डाब (नारियल पानी) की गौज रखी रहती है।

इसी तरह रोज खेलता। दिन-भर। सुबह-सुबह मां अपने साथ किसी-किसी के घर ले जाती।

शाम को दादा रोज कहानी सुनाते। दोपहर ही सबसे बुरी लगती। दादा सोते हैं। मां और दादी कभी सो जातीं और कभी बातें किया करतीं। स्वप्न को बाग में देख उसे बुलाकर सुलाने की कोशिश करतीं। इसलिए स्वप्न सारी दोपहर बागीचे में रहता है। कोलकाता में उसका फ्लैट है, जमीन तो दिखाई ही नहीं पड़ती। यहां पर इतने-सारे पेड़-पौधे, धूल-मिट्टी देख स्वप्न के आनंद की कोई सीमा ही न होती। शुरू-शुरू में मित्रों के लिए मन उदास रहता। सुमन, अनिंद्य, सव्यसाची और सौम्यदेव के चेहरे याद आते...और आंखों में पानी भर आता। यहां खेलने वाला कोई नहीं। बादल और माखन वगैरह उससे बहुत बड़े हैं। और संटू, बाच्चू और करीम वगैरह उससे छोटे हैं। लेकिन, अब मन उदास नहीं होता। ऐसे नए-नए खेल खेलने में स्वप्न को बड़ा अच्छा लगता। कोलकाता में तो ये सब खेल खेले ही नहीं जा सकते। कोई-न-कोई देख ही लेगा। और देखते ही चिढ़ाएगा। इसके अलावा खेलेगा ही कहां?

उस दिन दोपहर को स्वप्न 'मुक्तिफौज और खान सेना' खेल रहा था। रसोईघर के पिछवाड़े, जहां तुलसी का जंगल उग आया है, वहीं खेल रहा था। तुलसी के झाड़ माने गए गुरिल्ला वाहिनी और रसोईघर को माना गया खान सेना की चौकी। स्वप्न बना सेनापति...निश्चय ही मुक्तिदल का। सिर पर कफन बांध वो सब युद्ध के लिए निकले...स्वप्न ने तुलसी वन को निर्देश दिए—'करीम, तुम यहां रुको, हिलना मत, बड़ी वाली लाठी तैयार है ना...मैं कह रहा हूं कि शत्रु इसी घर में छुपा हुआ है...चुप रहो अनिंद्य, एक भी शब्द मत बोलो, माखनदादा, सुनो सांस तक रोके रहो, लाठी तैयार कर ली है ना...दाहिनी तरफ से धीरे-धीरे तुम लोग चौकी घेर लो...और सौम्यदेव...तुम सुमन को साथ ले बाईं तरफ से आगे बढ़ते रहो...बिल्कुल आवाज मत करना...लाठी तैयार रखना...मैं जैसे ही वहां पहुंच दरवाजा खोलूं और सिगनल दूं वैसे ही तुम सब एक साथ कूद पड़ना... समझे? भाईसाहब, बहुत दिन सहा है...आज प्रतिशोध करने का मौका मिला है...शत्रु को बचाना नहीं चाहिए...बादलदादा, मंटू, बाच्चू, आजिम...सब तैयार रहो...छह, पांच, चार, तीन, दो, एक... झपाक...' एक धक्का मार स्वप्न ने रसोई का लगा हुआ दरवाजा खोल दिया और खोलते ही न मालूम क्या हुआ।

न मालूम कहां से एक बीमार-बीमार-सा बालक स्वप्न के पैरों पर आकर गिर पड़ा। उसका सिर मुंडित था और उसने सिर्फ गमछा पहना हुआ था। उसे सिर्फ पैरों पर गिरकर ही संतोष न हुआ...दोनों हाथों से स्वप्न के पैर पकड़ वो विलाप करने लगा—'बाबू साहब, मुझे मत मारना बाबू, मुझे मत मारना बाबू, मैं अब और चोरी नहीं करूंगा, मैं मां काली की शपथ लेकर कहता हूं, ...बाबू साहब, मुझे मत मारो...तुम अपने दल-बल को मना कर

आओ बाबू...मैं अब जीवन में कभी भी ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा।'

स्वप्न पहले तो हतप्रभ रह गया, फिर पलक झपकते ही समझ गया कि मामला क्या है। वरना वो कैसे फर्स्ट आकर क्लास सिक्सथ में पहुंचता? हाथ की छड़ी घुमा स्वप्न बोला—'ठीक है। तुम मेरा पैर छोड़ो, मैं उन्हें मना कर आऊं कि तुम्हें मारे ना, लेकिन तुम सच-सच बताओ, तुम सचमुच अब और चोरी नहीं करोगे ना?' बालक पैर छोड़ चूल्हे के पास दौड़ गया और चूल्हे पर दोनों हाथ रख बोला—'ये देखो, चूल्हा छूकर प्रतिज्ञा करता हूं कि अब कभी चोरी नहीं करूंगा।' ...स्वप्न ने देखा कि सचमुच ही उस बालक की आंखों से झर-झर आंसू गिरने लगे। यह देख उसे बहुत दुख हुआ। आह रे! इतना गरीब है, किसे मालूम। गरीब न हो तो क्या कोई चोरी करने आएगा?

झट से बाहर निकल, फटाक से दरवाजा बंद कर स्वप्न ने चिटकनी चढ़ा दी और हाथ की छड़ी ठूंस कर उसमें फंसा दी। चोर चुराया हुआ धन लेकर भाग नहीं पाएगा। फिर कहने लगा—'अच्छा, सुमन, सोमदेव, अनिंद्य, सव्यसाची...तुम सब इस बार चोर को छोड़ दो...उसे मन-ही-मन बड़ी पीड़ा हुई है और कभी इस तरह चोरी न करने की प्रतिज्ञा की है। उसे छोड़ ही दूं क्या, बताओ? हम लोग तो उसे मार ही डालते, लेकिन अब नहीं मारेंगे। अपनी गलती मानकर माफी चाहता है, दोषी को क्षमा देने का ही रिवाज है। हमने P.O.W. (युद्धबंदियों) को मुक्त कर दिया, जयहिंद! तुम लोग अपने-अपने घर चले जाओ। स्क्वैड डिसमिस (जत्था बर्खास्त)।' कहकर स्वप्न उस कमरे की तरफ भागा जिसमें मां और दादी, दरी बिछाए लेटे-लेटे बातें कर रही थीं।

—'मां-मां, दादी-दादी, रसोईघर में मैंने एक चोर को बंद कर दिया है। चोर रो रहा है।' मां बोली—'स्वप्न इस भरी दुपहरिया में तुम्हारे साथ खेलने का समय, मुझे नहीं।' स्वप्न बोला—'ओ मां, यह कोई खेल नहीं। सचमुच चोर है। रो रहा है। गमछा पहने हुए है। गंजा सिर है। एक झोले में सारे बर्तन भरकर रख लिए हैं।'

'...आंय? बर्तन-भांडे? झोले में?' एक साथ चिल्लाते हुए मां और दादी फटाक से उठ बैठीं। फिर रसोईघर की तरफ दौड़ीं। घुसते समय मां को बाएं हाथ से पीछे ठेलते हुए दादी बोली, 'बच्चो, तुम इस सब में मत पड़ो।' इतने गड़बड़-झाले में भी स्वप्न को हंसी आ गई। मां क्या कोई बच्ची है। दादी ने चिटकनी खोल हांक लगाई, 'कौन है रे? ...तू किस गांव का चोर है?' —'जी, रासमनिहाट का।' दादी-मां बोली—'इधर आओ।' बालक कांपते हुए पास आया। दादी बोली—'मांजे हुए सारे बर्तन छू लिए...फिर धोना पड़ेगा। पहले झोले से निकाल कर रख दे।' गमछे से आंखें पोंछ, बड़े यत्न से बर्तन निकालते हुए चोर बोला, 'जी, मैं भट्टाचार्जी ब्राह्मण का बेटा हूं, मेरे बर्तन छू लेने से तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा।' यह कह उसने गमछे के नीचे से खींच कमर में बंधा सफेद जनेऊ दिखाया। दादी और मां गाल पर हाथ रख सोचने लगीं। 'ये क्या! ब्राह्मण के बेटे होकर चोरी करते हो? शर्म नहीं आती? इससे तो अच्छा डूब मरते।'

उसी समय खड़ाऊ खटखटाते दादा आ पहुंचे—'क्या हुआ?' तब कालीपद चोर बोल रहा था—'क्या करूं मां, कोई खाने के लिए कुछ नहीं देता...भूख के मारे चोरी करनी पड़ रही थी...।' स्वप्न ने पूछा—'क्यों, क्या तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं?'—'वे लोग तो कब के स्वर्ग सिधार गए। माता-पिता कोई भी नहीं है।' दादी बोली, 'आह रे बच्चे! बच्चा क्या तेरा कोई नहीं? इसीलिए चेहरा इतना सूखा हुआ है, थोड़ी-सी मूड़ी नारियल डालकर बना देती हूं।' दादा ने पूछा, 'गायत्री भी जानते हो?' चोर जनेऊ हाथ में ले बोला—'जानता हूं। ॐ भूर्भुव स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि'—जल्दी-जल्दी चोर ने जब गायत्री सुनाई तब दादी कोमल स्वर में बोली, 'पहले हाथ-पैर धो लो बेटे, फिर मंदिर में जा...।' तालाब में डुबकी लगाकर दादा-दादी के कहे अनुसार मंदिर में जनेऊ छू, कृष्ण के चरण स्पर्श कर, गायत्री मंत्र का जाप कर उसने सचमुच ही प्रतिज्ञा की कि अब और चोरी नहीं करेगा। आज से आदर्श बालक की तरह दादी के पास ही रहेगा। पानी भरेगा, बागीचा साफ करेगा और दादा के साथ पूजा करना सीखेगा। इस गांव में कोई ब्राह्मण नहीं, दादा के न रहने के बाद राधा-कृष्ण मंदिर का पुजारी मिलना मुश्किल होगा इसलिए चोर अभी से पुजारीपने की एप्रेंटिसशिप (प्रशिक्षण) लेगा।

फिर मोती जैसे सफेद दांत निकाल शर्मीली हंसी हंसते-हंसते कालीपद एक टोकरी भर मूड़ी लेकर रसोईघर के गलियारे में बैठ खाने लगा और उसी दिन से दादा के बागीचे में स्वप्न का अपनी इच्छानुसार खेलना बंद हो गया। दो दिन में ही कालीपद ने तुलसी के सारे झाड़ उखाड़ फेंके।

स्वप्न को केवल एक दुख है, इतना छोटा बालक होने पर भी उसने बिल्कुल अकेले एक सचमुच का चोर पकड़ लिया, लेकिन गांव-भर में किसी को भी इतनी बड़ी घटना की कोई खबर न लगी। दादा ने शायद कहा था कि यह सुनकर कि ये बालक पहले चोर था, कोई भी उसे पूजा के लिए नहीं बुलाएगा। इसलिए इतनी बड़ी खबर भी उन्हें दबाकर रखनी पड़ी, सबको केवल यही सुनने को मिला—किसी गरीब ब्राह्मण बालक को पुजारीजी ने अपने घर में आश्रय दिया है।

हालांकि कालीपद स्वप्न के दादा की बहुत प्रशंसा करता है। जीवनदाता मान वो उनकी बड़ी श्रद्धा करता है। उसे भी कभी नहीं पता लगा कि उस दिन दोपहर को स्वप्न के बागीचे में स्वप्न के कौन-कौन-से मित्र थे।

*अनुवाद : चन्द्रकिरण राठी*

---

## रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

# भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

## तुम्हारी छाया में

जीवन की ऊष्मा की
याद भी बनी है जब तक
तब तक मैं
घुटनों में सिर डालकर
नहीं बैठूंगा सिकुड़ा-सिकुड़ा

भाई मरण
तुम आ सकते हो
चार-चरण
छलांगें भरते मेरे कमरे में

मैं ताकूंगा नहीं
तुम्हारी तरफ डरते-डरते
आंकूंगा
जीवन की नई कोई छांव
तुम्हारी छाया में।

## शून्य होकर

शून्य होकर
बैठ जाता है जैसे
उदास बच्चा

उस दिन उतना अकेला
और असहाय बैठा दिखा
शाम का पहला तारा

काफी देर तक
नहीं आए दूसरे तारे
और जब आए तब भी

ऐसा नहीं लगा कि
पहले ने उन्हें महसूस किया है
या दूसरों ने पहले को!

## सागर से मिलकर

सागर से मिलकर जैसे
नदी खारी हो जाती है
तबीयत वैसे ही

भारी हो जाती है मेरी
संपन्नों से मिलकर
व्यक्ति से मिलने का

अनुभव नहीं होता
ऐसा नहीं लगता
धारा से धारा जुड़ी है

एक सुगंध
दूसरी सुगंध की ओर
मुड़ी है

तब कहना चाहिए
संपन्न व्यक्ति
व्यक्ति नहीं है

वह सच्ची कोई
अभिव्यक्ति
नहीं है

कई बातों का जमाव है
सही किसी भी
अस्तित्व का अभाव है

मैं उससे मिलकर
अस्तित्वहीन हो जाता हूं
दीनता मेरी

बनावट का कोई तत्त्व नहीं है
फिर भी धनाढ्य से मिलकर
मैं दीन हो जाता हूं

अरति जनसंसदि का
मैंने इतना ही
अर्थ लगाया है

अपने जीवन के
समूचे अनुभव को
इस तथ्य में समाया है

कि साधारण जन
ठीक जन है
उससे मिलो-जुलो

उसे खोलो
उसके सामने खुलो
वह सूर्य है जल है

फूल है फल है
नदी है धारा है
सुगंध है

स्वर है ध्वनि है छंद है
साधारण का ही जीवन में
आनंद है!

# आध्यात्मिक गतिविधियों के सम्यक् संचालन के लिए मिलता रहा है मौलिक चिंतन

# कार्यप्रणाली में आई सुव्यवस्था व गुणवत्ता

❑

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा का 93वां वार्षिक अधिवेशन 24 जनवरी, 2007 को गंगाशहर में संपन्न हुआ। तेरापंथ के 143वें मर्यादा महोत्सव के मौके पर संपन्न हुए इस अधिवेशन की सदा की तरह इस बार भी यह विशेष बात रही कि महासभा के मानित सदस्यों के साथ-साथ संपूर्ण तेरापंथ समाज की आभा प्रकारांतर से अधिवेशन पर प्रकट होती रही।

**श्रेष्ठ सभा चयन; संबोधन अलंकरण मिलन गोष्ठी**

24 जनवरी को संपन्न हुए तीन दिन के वार्षिक अधिवेशन पर पहले रोज 22 जनवरी को सायंकाल 7 बजे गंगाशहर के ओसवाल पंचायत भवन के टी.एम. हॉल में श्रेष्ठ चयनित सभाओं व संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्ताओं और उनके परिजनों का मिलन व सत्कार समारोह हुआ। श्रेष्ठ सभा के रूप में **तेरापंथी सभा, बेंगलौर** व **तेरापंथी सभा, चैन्नई** और विशिष्ट सभा के रूप में **तेरापंथी सभा, दक्षिण हावड़ा** व **तेरापंथी सभा, गुलाबबाग** का चयन हुआ। पूर्व में अलग-अलग सभाओं की ओर से आए आवेदनों के आधार पर दस श्रेष्ठ सभाओं का चयन हुआ। इस चयन-प्रक्रिया के बारे में श्री सुरेंद्र चौरड़िया (निवर्तमान अध्यक्ष) ने जानकारी दी। दस चयनित सभाओं में से श्रेष्ठ सभा के चयन के लिए निर्णायक मंडल बना। इस में श्री सुखराज सेठिया, डॉ. मंजू नाहटा और डॉ. शांता जैन सदस्य थे।

**जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा का 93वां वार्षिक अधिवेशन : तीन दिन के कार्यक्रम संपन्न**

इस समारोह की शुरुआत महासभा के अध्यक्ष श्री राजकरण सिरोहिया के स्वागत भाषण से हुई। चयनित दस सभाओं व श्रेष्ठ सभाओं के पदाधिकारियों का भी स्वागत किया गया। इसी के साथ संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्ताओं और उनके परिजनों की मिलन गोष्ठी भी शुरू हुई।

संबोधन प्राप्तकर्ताओं का परिचय देने के साथ ही उन या उनके प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित जनों को सम्मानसूचक 'किट' भेंट किए गए। 'संबोधन प्राप्तकर्ता 2006 : एक परिचय' पुस्तक भी सभी को भेंट की गई। महासभा की गतिविधियों में सहयोग देने वालों के प्रति महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने आभार प्रकट किया। इस कार्यक्रम का संचालन श्री भंवरलाल सिंघी ने किया।

**संबोधन अलंकरण समारोह**

23 जनवरी, 2007 को संबोधन अलंकरण समारोह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी और साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी की उपस्थिति में 'मर्यादा समवसरण' (आचार्य तुलसी समाधि-स्थल) स्थल पर संपन्न हुआ। इसी समारोह में श्रेष्ठ सभा पुरस्कार के प्रायोजक श्री सुरेन्द्र बच्छावत और श्री मांगीलाल छाजेड़ को उत्तरीय ओढ़ाकर सम्मानित किया गया। संबोधन अलंकरण प्राप्तकर्ताओं का सम्मान भी इसी समारोह में हुआ। (देखें जैन भारती के इसी अंक में पृष्ठ संख्या 51 पर प्रकाशित मर्यादा महोत्सव रिपोर्ट)

**ज्ञानशाला पुरस्कार समारोह**

इसी क्रम में 23 जनवरी को ही सायंकाल युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के सान्निध्य में बाफना अकादमी परिसर में ज्ञानशाला पुरस्कार समारोह संपन्न हुआ। सबसे पहले मुनि विजयकुमारजी ने मंगलाचरण का संगान किया।

महासभा अध्यक्ष श्री राजकरण सिरोहिया ने पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं व उपस्थित जनों का स्वागत किया। ज्ञानशाला प्रवृत्ति के सहप्रभारी मुनि उदितकुमारजी ने इससे जुड़ी गतिविधियों की जानकारी दी।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने एक ओर जहां ज्ञानशाला प्रशिक्षकों और कार्यकर्ताओं का साधुवाद किया, वहीं इस प्रवृत्ति के विस्तार की आवश्यकता भी जतलाई।

महासभा के अध्यक्ष श्री राजकरण सिरोहिया ने श्रेष्ठ तथा उत्तम ज्ञानशाला, श्रेष्ठ प्रशिक्षक, श्रेष्ठ ज्ञानार्थी और वरिष्ठ प्रशिक्षकों को पुरस्कृत किया। इसी मौके पर 'ज्ञानशाला प्रशिक्षक प्रशिक्षण परियोजना' के तहत पिछले तीन बरसों में प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्थान प्राप्तकर्ताओं को भी प्रमाण-पत्र देकर सम्मानित किया गया। ज्ञानशाला पुरस्कारों के प्रायोजक श्री विमलकुमार नाहटा को उत्तरीय ओढ़ाकर सम्मानित किया। ज्ञानशाला के राष्ट्रीय नियोजक श्री अशोकभाई सिंघवी ने धन्यवाद ज्ञापित किया। इस कार्यक्रम का संचालन महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने किया।

## महासभा का 93वां अधिवेशन

महासभा की साधारण सभा का 93वां वार्षिक अधिवेशन 24 जनवरी को समणीवृंद के मंगलाचरण से शुरू हुआ। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में महासभा अध्यक्ष श्री राजकरण सिरोहिया ने सभी सदस्य महानुभावों व अन्य उपस्थित जनों का स्वागत करते हुए बीते वर्ष की उपलब्धियों पर रोशनी डाली। श्री सिरोहिया ने पूज्यवरों के मार्गदर्शन और उनकी शुभाशिष के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, वहीं महासभा की अलग-अलग प्रवृत्तियों में सहयोग करने वालों के प्रति भी साधुवाद प्रकट किया गया।

महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने पिछले वर्ष के अधिवेशन की कार्रवाई पढ़कर सुनाई, जिसका अनुमोदन साधारण सभा के सदस्य महानुभावों ने किया। श्री सेठिया ने वर्ष-भर के काम-काज का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के साथ ही विगत अवधि में दिवंगत श्रावक-श्राविकाओं के प्रति श्रद्धांजलि भी प्रकट की। सेठियाजी ने भारतीभूषण स्वर्गीय श्रीचंदजी बैगानी (सुजानगढ़) सहित हंसराजजी कोठारी (कोलकाता) व नवरतनजी सुराणा (पड़िहारा) का विशेष उल्लेख करते हुए कहा कि वे धर्मसंघ के वरिष्ठ कार्यकर्ता तथा सुपरिचित व्यक्तित्व थे, जो अब हमारे बीच नहीं हैं।

श्री तरुण सेठिया ने महासभा द्वारा संचालित सभी प्रवृत्तियों पर अपने प्रतिवेदन में सिलसिलेवार रोशनी डाली।

उन्होंने स्थानीय सभाओं को महासभा के साथ संबद्ध (एफिलियेटेड) करने की जरूरत बताई और बताया कि वर्तमान में 460 स्थानीय सभाएं महासभा से संबद्ध हैं। श्री सेठिया ने बताया कि वर्तमान में महासभा के 3311 आजीवन सदस्य और 146 साधारण सदस्य हैं। उन्होंने अपने प्रतिवेदन में अपेक्षा जताई कि सभी स्थानीय सभाओं को महासभा से संबद्ध होना चाहिए।

श्री सेठिया ने इसी क्रम में विगत वर्ष में हुए आठ आंचलिक सम्मेलनों, महासभा पदाधिकारियों की संगठन यात्राओं, सभा-सर्वेक्षण संबंधी कार्यों की जानकारी भी दी।

महासभा के मासिक प्रकाशन 'जैन भारती' को एक उच्च कोटि की पत्रिका बताते हुए श्री सेठिया ने सभी उपस्थित जनों से अपेक्षा की कि इसकी पाठक संख्या में बढ़ोतरी के लिए सभी सदस्य महानुभाव अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

ज्ञानशाला प्रवृत्ति पर रोशनी डालते हुए उन्होंने बताया कि 238 ज्ञानशालाओं का संचालन हो रहा है और प्रशिक्षित प्रशिक्षकों की संख्या 1444 है। उन्होंने प्रशिक्षण हेतु श्री निर्मल नौलखा की सेवाओं की सराहना की। इसी क्रम में उपासक प्रवृत्ति, संबोधन अलंकरण, श्रेष्ठ और विशिष्ट तेरापंथी सभा पुरस्कार, तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन, अभ्युदय प्रकाशन, सभा-प्रोत्साहन परियोजना, समस्या-समाधान प्रकोष्ठ, भिक्षु ग्रंथागार, समाजभूषण श्रीचंद रामपुरिया व्याख्यानमाला, महाप्रज्ञ स्कूल ऑफ फिलासॉफि एंड रिलीजन, मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना आदि के बारे में भी जानकारी दी। श्री सेठिया ने आचार्यश्री तुलसी अमृत महाविद्यालय के संचालन में सहयोग और जनवरी, 2006 से दिल्ली में शुरू किए गए केंद्रीय सचिवालय के बारे में भी जानकारी दी। इसी के साथ साहित्य प्रकाशन, कोलकाता स्थित महासभा भवन, समाजभूषण छोगमल चौपड़ा शिक्षा कोष, महासभा भवन में होम्योपैथिक दवाखाना आदि के बारे में भी जानकारी दी।

शेष पृष्ठ 58 पर

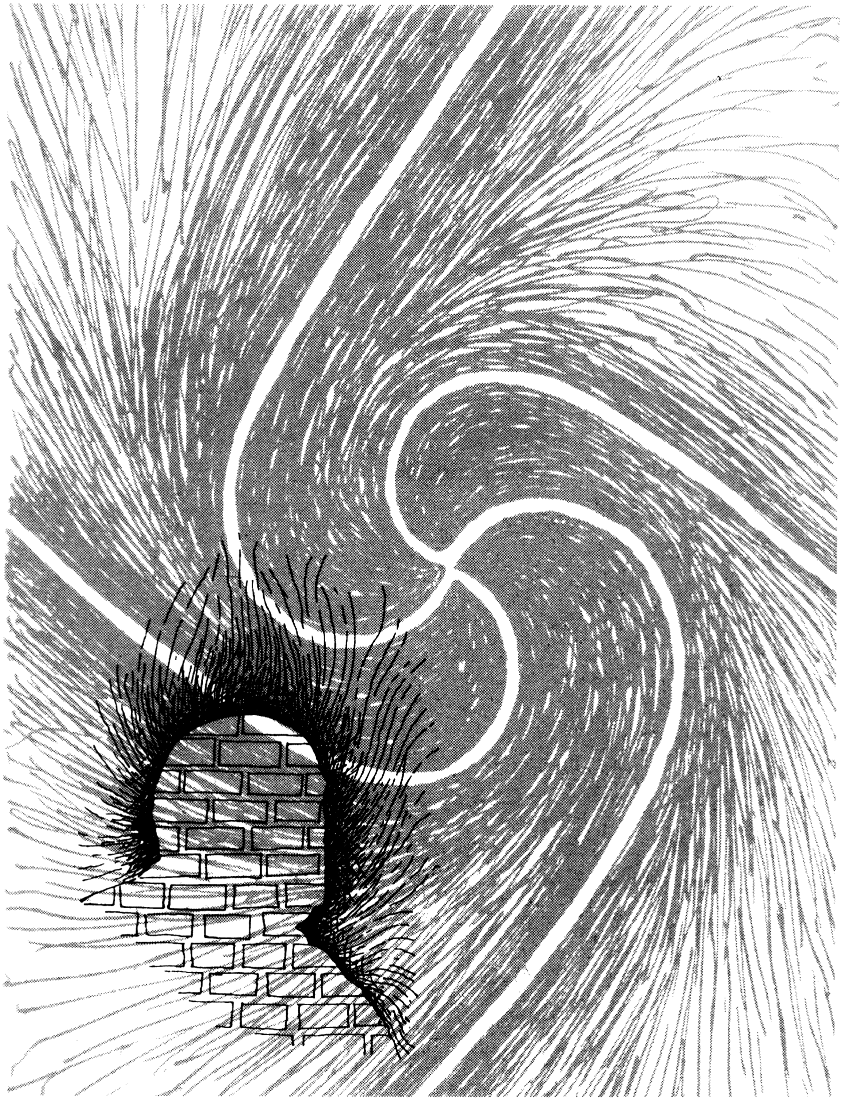

# शीलन

मनुष्य तो मुक्त ही है, किंतु उसे इस सत्य को जानना पड़ेगा। वह प्रतिक्षण इसे भूल जाता है। जाने या बिना जाने, अपने इस मुक्त स्वरूप को पहचान लेना—यही प्रत्येक मानव का संपूर्ण जीवन है। ज्ञानी और अज्ञानी में भेद यही है कि ज्ञानी इसका जान-बूझकर अन्वेषण करता है और अज्ञानी बिना जाने। अणु से लेकर नक्षत्र तक—सभी मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञानी पुरुष एक छोटी-सी परिधि में स्वतंत्र होने से ही—भूख-प्यास के बंधनों से मुक्त होने से ही—संतुष्ट हो जाता है। किंतु, ज्ञानी अनुभव करता है कि इनसे भी दृढ़तर बंधन हैं—जिन्हें छिन्न करना है।

**—स्वामी विवेकानंद**

*अणु की तरह 'तप' शब्द छोटा है, वह भी दो लघु अक्षरों का, पर इसका अर्थ विराट है। इसकी शब्द-रचना जितनी लघु है, इसका कार्य उतना ही महान है। तपस्या के द्वारा कर्मरोगों से मुक्ति मिलती है तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान कर परमात्म पद प्राप्त किया जा सकता है। इससे आत्मबल जाग्रत होता है। यह एक स्वस्थ जीवन जीने की अभिनव कला है। शास्त्रों में तीन अमूल्य रत्न बताए हैं—कम खाना, गम खाना और नम जाना। इन सबसे शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास होता है। शरीर, मन और इंद्रियों की स्वस्थता के लिए आहार-संयम बहुत जरूरी है। तपस्या शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं, आत्मा को कर्म-मुक्त करने के लिए करते हैं।*

# ऊर्जा, प्राण-शक्ति और उपचार-विधि

साध्वी लक्ष्मीकुमारी

तपस्या भारतीय संस्कृति का प्राण है, जीवन की पवित्रता का सुंदर आयाम है। बताया है— **तवेण परिसुज्जइ** (उत्तराध्ययन अ. 28, गा. 32)—तप से आत्मा पवित्र होती है। आत्मा का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए तप का आलंबन लेना चाहिए। वस्तुतः जैन संस्कृति तपप्रधान संस्कृति रही है। तपस्या महानिर्जरा का हेतु और आत्मोपलब्धि का विलक्षण अनुष्ठान है। कामना, अभिलाषा और आकांक्षा से ऊपर उठकर किया जाने वाला तप सर्वश्रेष्ठ तप है। सूत्रकृतांग में कहा है—**जो पूयणं तवसा मावहेज्जा** (सूत्रकृतांग, 7-27)—तपस्या द्वारा पूजा की इच्छा नहीं करनी चाहिए। गीता में कहा है— **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेसु कदाचनः**—कर्म करना तेरा अधिकार है, किंतु फल की आकांक्षा करने की जरूरत नहीं है। तप से सिद्धियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मनुस्मृति में कहा है—

**यद् दुस्तरं, यद्दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।**
**सर्वं तु तपसा साध्यं, तपोहि दुरतिक्रमम्।।**

11-2-38

अर्थात्—जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है, दुर्गम है और दुष्कर है, वह तप द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि तप दुरतिक्रम है। इसके आगे कठिनता जैसी कोई चीज नहीं है।

आज वैज्ञानिक भी तप को चिकित्सा पद्धति बतलाने लगे हैं। तप सचमुच संजीवनी औषध है। तपस्या शरीर में जमे हुए मल निष्कासन के लिए विरेचन का काम करती है। उदयपुर के एक धर्मनिष्ठ श्रावक ने 5 दिन का उपवास किया। पारणे के उपरांत मल विसर्जन के समय सर्प जैसा जंतु निकला। उस दिन के बाद उस श्रावक के पेट का भीषण दर्द सदा-सदा के लिए मिट गया। इससे पूर्व वह पेट-दर्द की पीड़ा से ग्रस्त रहता था। आज वैज्ञानिक युग में प्रयोगात्मक पद्धति को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। तप और ध्यान की पद्धति में आत्मा भिन्न व शरीर भिन्न का अवबोध कराया जाता है। यह चिकित्सा की प्रयोगात्मक विधि है।

## क्षणभंगुर शरीर

जैन दर्शन ने शरीर को पुद्गल माना है, जड़ माना है। शरीर क्षणभंगुर है, नश्वर है। आत्मा अमर है। आत्मा का छेदन-भेदन नहीं होता। गीता में कहा है—**नैनं छिंदंति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः**—अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा आत्मा का छेदन-भेदन नहीं होता। आत्मा को अग्नि के द्वारा जलाया नहीं जा सकता। **कर्मों के बंधन से** आत्मा पर छाई हुई कालिमा के आवरण को तप के द्वारा हटाया जा सकता है। कहा गया है—अपने जीवन को

तप-रूपी अग्नि में तपाकर कुंदन बनाते रहो, क्योंकि वही तप सच्चा तप है जो कषायों का शमन करे, आत्मोत्कर्ष का पथ प्रशस्त करे। तप जीवन का आलोक है, प्रकाश-स्तंभ है, आत्मा की अंतःस्फूर्त पवित्रता है और अंतर्मन का माधुर्य है, सौंदर्य है। तपस्या अध्यात्म धर्म का महान अनुष्ठान है। अक्षय सुख का स्रोत है। तपस्या का अर्थ है—अपनी दुष्प्रवृत्तियों, उभरती हुई वासनाओं पर नियंत्रण और समता का विकास।

## शब्द छोटा; अर्थ विराट

अणु की तरह 'तप' शब्द छोटा है, वह भी दो लघु अक्षरों का, पर इसका अर्थ विराट है। इसकी शब्द-रचना जितनी लघु है, इसका कार्य उतना ही महान है। तपस्या के द्वारा कर्मरोगों से मुक्ति मिलती है तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान कर परमात्म पद प्राप्त किया जा सकता है। इससे आत्मबल जाग्रत होता है। यह एक स्वस्थ जीवन जीने की अभिनव कला है। शास्त्रों में तीन अमूल्य रत्न बताए हैं—कम खाना, गम खाना और नम जाना। इन सबसे शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास होता है। शरीर, मन और इंद्रियों की स्वस्थता के लिए आहार-संयम बहुत जरूरी है। तपस्या शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं, आत्मा को कर्म-मुक्त करने के लिए करते हैं। हां, तपस्या से शरीर में दुर्बलता या कृशता आती है, पर मन में दिव्यता लाती है। तपस्या से आत्मिक लाभ तो होता ही है, उसके साथ-साथ शारीरिक लाभ भी होता है।

आज की युवा पीढ़ी का कथन है कि तप के द्वारा शरीर को कष्ट देना कैसा धर्म है? इस प्रश्न का समाधान इस रूपक से मिल सकता है—

एक महात्मा से किसी जिज्ञासु ने पूछा—'आत्म-कल्याण के लिए शरीर को कष्ट देना कैसा धर्म होता है?' महात्मा ने प्रश्न पर प्रतिप्रश्न किया—'मक्खन से घी कैसे निकाला जाता है?'

जिज्ञासु ने उत्तर में कहा—'आपको क्या बताऊं? आप तो विज्ञ हैं।' फिर मुस्कराते-मुस्कराते कहा—'महात्माजी! एक बर्तन में मक्खन डाल कर आग पर तपाने से घी निकल जाता है।'

महात्मा ने पुनः प्रश्न किया—'मक्खन को तपाने के लिए बर्तन को जलाने से क्या लाभ?'

जिज्ञासु—'महात्माजी! आप कैसी बात कर रहे हैं! बर्तन को तपाए बिना मक्खन कैसे तपेगा?'

महात्मा ने पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'मक्खन-रूपी आत्मा को तपाने के लिए शरीर-रूपी बर्तन को तपाना बहुत अपेक्षित है। क्योंकि अनादि काल से संसारी आत्मा के कर्म चिपके हुए हैं।'

जैसे धातु-मिट्टी, तेल-खल, घी-छाछ, अलग-अलग पैदा नहीं होते, किंतु दिन के उजाले की भांति स्पष्ट है कि इनका पृथक्करण यंत्रों, रसायनों, घाणी व बिलौने की प्रक्रिया से किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा पर चिपके हुए कर्मों को तप-रूपी अग्नि के द्वारा अलग किया जा सकता है। आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग निर्युक्ति की गाथा 282 में बताया है—**जह खलु मइलं वत्थं सुज्झए। उद्गाहि एहिं दव्वेहिं एवं भावु व हाणेण सुज्झए कम्म दुविहं।**

जिस प्रकार मलिन वस्त्र सोडा, सर्फ आदि से स्वच्छ-उजला हो जाता है, उसी प्रकार द्वादश विध तप की आराधना से आत्मा भी पवित्र हो जाती है। तप एक सुरसरिता का शीतल सलिल है, जो आत्मा को मलमुक्त बना देता है। शास्त्रों में बताया है कि बहुमूल्य रत्न कंबल, पानी से नहीं—आग से धुलता है। ठीक उसी प्रकार तप एक ऐसी आंच है जिसमें आत्मा कंचन बन जाती है। आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—**तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः**—जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसे तप कहते हैं। हिमपात होने पर बर्फ जम जाती है, उस पर चलने से पैर फिसलने लगते हैं। सूर्य के प्रचंड ताप से वह पिघल जाती है। इसी प्रकार कर्म-रूपी हिम-खंडों को उत्तप्त कर पिघला देने वाली महाज्वाला को तप कहा जाता है। इच्छाओं का निरोध ही तप है। उत्तराध्ययन में कहा है—**भव कोडिय संचियं पावं तवसा निज्ज रिज्जइ**—करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं। जैसे तालाब का जल सूर्य के ताप से धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। जैसे गुलाब के फूल की कली-कली में सौरभ है, तिल के कण-कण में चिकनाई है, ईख के पोर-पोर में माधुर्य समाया हुआ है—वैसे ही जैन धर्म के प्रत्येक चिंतन में तप समाया हुआ है। तप ऊर्जा है, प्राण-शक्ति है।

चिकित्सकों ने उपवास को सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति बतलाया है। उपवास से श्वेत कणों का संतुलन और लाल कणों की वृद्धि होती है। जीर्ण ज्वर से मुक्ति

और त्वचा की शुद्धि होती है। उपवास स्वास्थ्य को दुरुस्त रखने की अद्वितीय पद्धति है। आहार-संयम स्वास्थ्य को सही रखता है। असंयम से अजीर्ण का रोग होता है और सड़ांध पैदा हो जाती है। कहा है—**अजीर्णे भोजनं विषं**। यदि उस रोग में उपवास कर लिया जाए, तो अजीर्ण का रोग समाप्त हो जाता है। शरीर के भीतर जमे हुए मलों का निष्कासन हो जाता है। तप से मोटापा दूर होते ही आलस्य से भी छुटकारा मिल जाता है। तप के प्रभाव से संकट, उपद्रव, विघ्न, बाधाएं भी समाप्त हो जाते हैं। जैसे परिश्रम करने पर शरीर से पसीना निकलता है और शरीर स्वस्थ रहता है, उसी प्रकार हमारे भीतर कषाय, वासना और मत्सर के जो विषाणु होते हैं—उन्हें तपस्या के द्वारा दूर किया जा सकता है। इसलिए तपस्या की व्यावहारिक उपयोगिता है। तपस्या सुहाना कल्पवृक्ष है, जो जीवन को वसंत ऋतु जैसी समरसता प्रदान करती है। तप से आत्मा का कण-कण पुलकित हो जाता है।

केवल उपवास तक ही तपस्या का क्षेत्र समाप्त नहीं होता। तप का क्षेत्र विशाल है। इसके कई प्रकार हैं—

1. आत्मचिंतन करना तपस्या है। 2. इच्छाओं का अल्पीकरण करना तपस्या है। 3. खाने में द्रव्यों की सीमा करना तपस्या है। 4. रात्रि-भोजन का परित्याग करना तपस्या है। 5. कड़वे बोल सहना और प्रदर्शन से दूर रहना भी तपस्या है।

महाभारत में महर्षि व्यास ने लिखा है—क्रूरता का विसर्जन, अहिंसा, सत्य, सदाचार का पालन तथा कार्य क्षेत्र में अन्याय के वर्जन को तप कहा है।

गीता में भी कहा है कि 'मन, वाणी और काया की निर्मलता तप है।' शरीर में रक्त प्रवाह की तरह जन-मानस में यदि विशुद्ध तप की भावना प्रवाहित होने लगे तो वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं का समाधान शीघ्र ही हो सकता है। कहा जाता है कि एक बार देवताओं का वैद्य अश्विनीकुमार मनुष्यलोक में आया। वेश परिवर्तन कर बागभट्ट आचार्य के पास पहुंचा। बागभट्ट आयुर्वेद के बहुत बड़े आचार्य थे। अश्विनीकुमार ने पूछा—मुझे ऐसी औषधि बताओ जो—**अभूमिजमनाकाशं, पथ्यं रस विवर्जितम्। सम्मतं सर्व शास्त्राणां, वदु वैद्य किमौषधम्।।** अर्थात्—जो न जमीन से उत्पन्न हुई हो, न आकाश से। जो पथ्य है, लेकिन जिसमें रस नहीं है और शास्त्रों द्वारा सम्मत है। ऐसी औषधि तप ही है।

## सभी धर्मों में तप का महत्त्व

गहराई से देखने से यह जानने को मिलता है कि वैज्ञानिकों से लेकर सभी मतों व धर्मों में तपस्या को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। तप एक अभूतपूर्व अनुष्ठान है। अध्यात्म साधना का प्राण तत्त्व है।

## भाव-विशुद्धि

तपस्या में भाव-विशुद्धि की बहुत अपेक्षा है। भावों की शुद्धि के अभाव में किया हुआ तप केवल लंघन रह जाता है। अतः तप में भावों की शुद्धि होना अनिवार्य है। जब तक भाव-शुद्धि नहीं होती, तब तक अध्यात्म का विकास नहीं होता। जैन धर्म में आचार्य कुंदकुंद का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने लिखा है—

**भाव रहिओंण सिज्जई,**<br>
**जइवि तवं-चरइ कोडि कोडिओ।**<br>
**जम्म तरांई बहुसो।**<br>
**लंबिय हत्थो गलिय वत्थो।।**

अर्थात्—जीव दोनों हाथ लटका कर और वस्त्र को त्याग कर, करोड़ जन्म तक निरन्तर तपश्चर्या करता रहे, पर भाव-शून्य अवस्था में उसे कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। वासनामुक्त, कषायमुक्त और भाव-विशुद्धियुक्त तप ही सिद्धि प्रदान करता है।

अच्छे भाव जीवन में नई ऊर्जा का संचार करते हैं। स्वर्ण में नग जड़ने से सोने की कीमत दुगुनी हो जाती है, उसी प्रकार तप में आभ्यंतर तप—ध्यान, विनय आदि करने से तप की दुगुनी कीमत बढ़ जाती है। इसलिए आत्मोपलब्धि का विलक्षण अनुष्ठान तप को माना है। ❖

---

## उपचार : दवा और दुआ से

पृष्ठ 32 का शेष

भावनात्मक विकास की ओर ध्यान ही नहीं जा रहा है। भावनात्मक विकास से उन समस्याओं का समाधान हो सकता है जिसे चिकित्सा क्षेत्र का अंधकार वाला पक्ष कहा जाता है। जीवन विज्ञान इसी भावनात्मक विकास की दिशा में एक कदम है। जीवन विज्ञान आज की शिक्षा-पद्धति को पूर्णता दे सकता है। जीवन विज्ञान के माध्यम से चिकित्सा के क्षेत्र में घर कर चुकी समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है। ❖

*आधुनिक वैज्ञानिकों में भी यह धारणा पुष्ट हो रही है कि दवाइयों एवं शल्यक्रिया आदि के द्वारा शारीरिक विकृतियों को तो ठीक किया जा सकता है, किंतु मस्तिष्कीय एवं भावनात्मक विकारों को दूर करने के लिए योग व ध्यान का ही सहारा लेना पड़ेगा। इस धारणा के आधार पर अब 'होलिस्टिक क्लिनिक्स'— विकसित हो रहे हैं, जहां प्रचलित आधुनिक उपचार विधि के अतिरिक्त ध्यान, योग, मंत्र-जप आदि के प्रयोग किए जाते हैं। ध्यान, योग से व्यक्ति की रोग-प्रतिरोधक क्षमता का विकास कर 'एड्स' पर विजय प्राप्त करने के प्रयास भी हो रहे हैं।*

# स्वास्थ्य और ब्रह्मचर्य

मुनि धर्मेशकुमार

भारतीय ऋषि-मनीषी ब्रह्मचर्य की गौरव गाथा का संगान अनादि काल से मुक्त-कंठ से करते आ रहे हैं। ब्रह्मचर्य साधना का ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग है जो आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आदि-आदि जीवन के प्रत्येक पक्ष का योगक्षेम करता है। ब्रह्मचर्य की यशोगाथा में यहां तक कहा गया है कि उसको देवता, दानव, गंधर्व आदि सभी नमस्कार करते हैं[1]—

**देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।**
**बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं।।**

## ब्रह्मचर्य और महावीर

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य पर व्यापक दृष्टि से विचार किया। उन्होंने वर्षों से प्रचलित चातुर्याम साधना पद्धति का विस्तार किया और ब्रह्मचर्य को स्वतंत्र व्रत के रूप में प्रतिष्ठापित किया।[2] जैन आगमों से प्राप्त सूत्रों से यह भी प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर ने अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य-व्रत की सुरक्षा एवं विकास के लिए बहुआयामी प्रयोग प्रस्तुत किए। उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत में किसी प्रकार का अपवाद (छूट) तो रखा ही नहीं, वरन् वासना को उत्पन्न करने वाले निमित्तों से बचाव का भी विस्तार से प्रतिपादन किया।[3]

**विश्व स्वास्थ्य दिवस (7 अप्रैल) पर विशेष**

## महाव्रत-अणुव्रत

भगवान महावीर ने व्यवहार को कभी गौण नहीं किया। साधक की शक्ति, श्रद्धा, धैर्य आदि की तरतमता को देखते हुए उन्होंने व्रतों को महाव्रत और अणुव्रत, इन दो भागों में विभक्त किया[4]। महाव्रत के अंतर्गत सर्वतोभावेन अब्रह्मचर्य का त्याग कर ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना की जाती है। महाव्रत गृहत्यागी मुनियों के लिए विहित है। जो साधक गृहत्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार करने में सक्षम नहीं हैं, वे अणुव्रत को स्वीकार कर सकते हैं। इसके अंतर्गत सामाजिक मान्यता के अनुसार विवाहित एक पत्नी/एक पति के अतिरिक्त सभी से मैथुन सेवन का त्याग किया जाता है।

## एड्स और ब्रह्मचर्य

विश्वयुद्धों की विकराल विभीषिका से मानवता के विनाश की झलक देखकर तथा आतंकवाद की विश्व-स्तरीय ज्वाला से तप्त मनुष्य को अपने अस्तित्व की चिंता हुई तो समाधान की दृष्टि अहिंसा पर ही टिकी। वर्तमान में विकराल रूप से फैलती, असाध्य 'एड्स' की समस्या ने मानव को ब्रह्मचर्य की शरण में जाने के लिए मजबूर कर दिया है। आज विशेषज्ञों का ध्यान मुक्त-भोग से हट कर संयमित जीवन की ओर आकर्षित हुआ है। व्यक्ति यदि अपनी संकल्प शक्ति का उपयोग कर संयमित जीवन को स्वीकार करता है तो वह सहज ही इस विभीषिका से बच सकता है। आध्यात्मिक आनंद का अनुभव भी कर सकता है।

### एड्स की विभीषिका

'एड्स' के आंकड़े रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं। बताते हैं कि विश्व में 40 करोड़ से अधिक लोग एच.आई.वी./एड्स से संक्रमित हैं। इनमें एक तिहाई लोगों की उम्र 25 वर्ष से कम है। पुरुषों की अपेक्षा महिला वर्ग इस की अधिक शिकार है। संक्रमित वयस्कों में महिलाओं का हिस्सा 60 प्रतिशत है। छोटे बच्चों के जीवन पर यह अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार प्रभाव डालता है कि इस महामारी के कारण लगभग डेढ़ करोड़ बच्चे अनाथ हो गए हैं।[5]

### एड्स से बचाव और ब्रह्मचर्य अणुव्रत

वर्तमान की यह भयावह स्थिति दर्शाती है कि 'एड्स' के फैलाव में पश्चिम की भौतिकतावादी व मुक्त-भोग की जीवन शैली मुख्य कारक रही है। चूंकि उपचार अभी तक नहीं मिला है, इसलिए वैज्ञानिकों को बचाव ही एकमात्र रास्ता नजर आ रहा है। इसका एकमात्र समाधान यौन स्वच्छंदता पर नियंत्रण है। प्रारंभ में काम-संयम की बात पश्चिम नहीं समझ सका। उसने मुक्त-भोग की खुली छूट देकर 'कंडोम' को सुरक्षा-कवच माना। 'एड्स' निवारण हेतु त्रि-सूत्री कार्यक्रम सीबीए प्रस्तुत किया। यहां 'सी' से तात्पर्य है—कंडोम। इसे प्रथम स्थान पर रखा। इस कार्यक्रम में 'बी'—अर्थात दूसरा स्थान व्यवहार परिवर्तन है। इसके तहत व्यवहार परिवर्तन कर समलैंगिकों को समाज की मुख्यधारा में लौटने की प्रेरणा दी जाती है, किंतु आंकड़े इस बात के प्रमाण हैं कि एड्स से सुरक्षा करने में कंडोम असफल सिद्ध हुआ है। तीसरे स्थान पर 'ए' संयम/ब्रह्मचर्य (एब्स्टिनेंस) को रखा है।

अगस्त, 2006 में विश्व एड्स सम्मेलन, कनाडा में सम्मिलित होने वाले वैज्ञानिकों ने एड्स से बचाव के लिए उपरोक्त प्रणाली सीबीए को संशोधित कर इसमें पूर्ण परिवर्तन कर दिया। इस क्रम को बदल कर एबीसी कर दिया गया। इस में प्रथम स्थान पर ब्रह्मचर्य/संयम (एब्स्टिनेंस) को 'एड्स' के निवारण के मूल-मंत्र के रूप में रखा गया। यह परिवर्तन भगवान महावीर के ब्रह्मचर्य-सिद्धांत की प्रासंगिकता का पुष्टतम आधुनिक प्रमाण है।

एब्स्टिनेंस के अंतर्गत भोग की उम्र बढ़ाने, अर्थात् कम उम्र में भोग न करने, संयम और वैवाहिक वचनबद्धता बनाए रखने अर्थात् पर-स्त्री/पर-पुरुष गमन, वेश्यागमन निषेध पर जोर दिया जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'एड्स' के प्रति जन-जागरण लाने के लिए एक स्लोगन दिया था—'कीप प्रॉमिस, स्टॉप एड्स' अर्थात्—'अपने जीवनसाथी के प्रति वचन निभाएं और एड्स से बचें।' यह 'कीप प्रॉमिस'—ब्रह्मचर्य अणुव्रत का आधुनिक संस्करण कहा जा सकता है।[6]

### ब्रह्मचर्य-शिक्षा और ध्यान

उन्मुक्त भोगों को प्रश्रय देने वाले यूरोपीय एवं अमेरिकी देशों में आज ब्रह्मचर्य मात्र सिद्धांत ही नहीं रहा है, इसका प्रायोगिक रूप भी स्पष्टतः देखने को मिल रहा है। इसके लिए स्कूल और कॉलेजों में बाकायदा 'एब्स्टिनेंस क्लब' बना कर ब्रह्मचर्य के महत्त्व को प्रतिपादित एवं ब्रह्मचर्य-विकास के लिए प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ध्यान को कपाट (सुरक्षा-कवच) एवं अध्यात्म को अर्गला (ताला) माना है।[7] आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने रोग-प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रेक्षाध्यान का पूरा प्रायोगिक प्रारूप प्रस्तुत किया है। इस आधार पर 'अध्यात्म साधना केंद्र', महरोली, दिल्ली के प्रशिक्षकों ने 'एड्स' के रोगियों पर प्रयोग भी करवाए हैं। 'एड्स' से सुरक्षा के साधनों के रूप में भी ब्रह्मचर्य को आज विकासक एवं संरक्षण-प्रदायक योग एवं ध्यान आदि विधियों को प्रमुखता से अपनाया जा रहा है। आधुनिक वैज्ञानिकों में भी यह धारणा पुष्ट हो रही है कि दवाइयों एवं शल्यक्रिया आदि के द्वारा शारीरिक विकृतियों को तो ठीक किया जा सकता है, किंतु मस्तिष्कीय एवं भावनात्मक विकारों को दूर करने के लिए योग व ध्यान का ही सहारा लेना पड़ेगा। इस धारणा के आधार पर अब **होलिस्टिक क्लिनिक्स** विकसित हो रहे हैं, जहां प्रचलित आधुनिक उपचार विधि के अतिरिक्त ध्यान, योग, मंत्र-जप आदि के प्रयोग किए जाते हैं। ध्यान, योग से व्यक्ति की रोग-प्रतिरोधक क्षमता का विकास कर 'एड्स' पर विजय प्राप्त करने के प्रयास भी हो रहे हैं।❖

**संदर्भ :**

1. उत्तराध्ययन, 16/16
2. वही, 23/23
3. उत्तराध्ययन, 16/ब्रह्मचर्य समाधि स्थान
4. उपासक दसाओ 1/16—चरित्ते धम्मो दुविहे पण्णत्ते।
5. राजस्थान पत्रिका, 26 नवंबर, 2006, रविवारीय अंक
6. वही
7. प्रश्नव्याकरण, 2/4

❖❖

*'देखा, राजन! हंसिनी को मारने वाले शिकारी को अपनी जान बचाने के लिए छिपना पड़ा। हंस को जाल में बंदी बनाने वाले धीवर को पीट-पीट कर अधमरा कर दिया गया। हंस-हंसिनी पर तीर चलाने वाले व्याध को तपस्वी ने शाप दे दिया। दूसरों को दुख देने और अत्याचार करने वालों को ऐसे ही फल भोगने पड़ते हैं।'*

*राजा हर्षोदय गंभीर होकर आकाश की ओर देखने लगे। उन्हें अपनी प्रजा के दुख और कष्टों का खयाल आया।*

*तभी ऋषि सोमदेव ने कहा—'यदि तुम पूर्वजन्म में विश्वास करते हो, तो समझ लो, हंस-हंसिनी तुम्हीं थे।'*

# मन का अंधकार

प्रदीप पंत

बालकथा

सप्तसिंधु के राजा हर्षोदय एक दिन रानी केतकी के साथ हरित वन की ओर चल पड़े। हरित वन में ऋषि सोमदेव का आश्रम था। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी।

सप्तसिंधु पहले हरा-भरा, धन-धान्य से भरपूर देश था। राजा हर्षोदय से प्रजा पूर्ण प्रसन्न थी। लेकिन, धीरे-धीरे राजा विलास में डूब गए। अत्याचारियों और पापियों का बोलबाला हो गया। प्रकृति कुपित हो गई। अन्न-भंडार खाली होने लगे। लोग दुखी हो उठे और राजा से नाराज रहने लगे। प्रजा ने प्रदर्शन किया तो राजा ने सैनिकों से दमन करवाया। पर, बाद में लगा कि यह उचित नहीं है। वह समझ नहीं पा रहे थे कि क्या करें? फिर सोचा—'क्यों न ऋषि सोमदेव से मिला जाए! शायद वही कुछ राह दिखाएं।'

धूल और कांटों को झेलते हुए चलते-चलते वह सूर्यास्त से ठीक पहले ही कुटी में पहुंच गए। उन्होंने ऋषि सोमदेव को अपना और रानी केतकी का परिचय दिया। सोमदेव ने उन्हें सामने बिछे आसन पर बैठने के लिए इशारा किया। बैठने से पूर्व राजा हर्षोदय और रानी केतकी ने अपने राजसी वस्त्रों को भली-भांति झाड़ा।

ऋषि सोमदेव ने मुस्कराते हुए पूछा—'क्या राह में धूल और कांटे लग गए?'

—'हां ऋषिवर!'

ऋषि सोमदेव बोले—'राजन, केवल फूलों से ही घिरे रहने पर मनुष्य जीवन की सचाई को भूल जाता है। कभी-कभी धूल और कांटों से भी परिचित होना चाहिए। तभी जान सकते हैं कि सुख और दुख में क्या अंतर है!'

राजा हर्षोदय ने अपनी समस्या बताई। कहा—'क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता। आप ही कुछ राह दिखाइए, ऋषिवर!'

—'राह तो तुम्हारा मन ही दिखा सकता है। राजन!' ऋषि सोमदेव ने कहा—'मन को ठीक करो। उसके आगे जो अंधेरा छा गया है, उसे दूर करो।'

—'मैं आपका आशय नहीं समझा ऋषिवर!'—राजा हर्षोदय बोले।

—'राजन! एक कहानी सुनाता हूं।' ऋषि सोमदेव ने कहा—'बहुत पहले की बात है। बरसात के दिनों की सांझ का समय था। हंस का एक जोड़ा वृक्ष पर अपने घोंसले में बैठा हुआ था। अचानक आंधी आई और

मुसलाधार पानी बरसने लगा। वृक्ष उखड़ कर जमीन पर आ गिरा। तब तक चारों ओर घना अंधेरा हो गया था। हंस-हंसिनी बचने के लिए उड़े, किंतु अंधकार में एक-दूसरे से बिछुड़ गए।'

—'ओह! कितना दुखद है।'—रानी केतकी बोली।

ऋषि सोमदेव ने कहा—'निराश हंस-हंसिनी एक-दूसरे को इधर-उधर ढूंढ़ने लगे। आखिर हंसिनी एक पर्वत शिखर पर दिखाई दे गई। हंस तेजी से आकाश में तैरता हुआ उसकी ओर गया। दोनों एक-दूसरे को देख प्रसन्न हो उठे। लेकिन, क्षण-भर बाद ही हंस पर जैसे वज्रपात हुआ।'

—'सो कैसे?'—राजा हर्षोदय ने आश्चर्य से पूछा।

—'एक शिकारी ने निशाना साध कर हंसिनी पर तीर चलाया। तीर लगते ही छटपटाती हुई हंसिनी नीचे आ गिरी। बेचारा हंस विलाप करता हुआ पर्वत शिखर से उड़ गया।'

रानी केतकी ने उदास स्वर में कहा—'कैसे-कैसे निर्दयी लोग इस धरती पर हैं।'

ऋषि सोमदेव ने कथा जारी रखी—'शिकारी अपनी सफलता पर प्रसन्न था। मरी हुई हंसिनी को उसने लपक कर उठा लिया। लेकिन तभी कुछ लोगों की आहट सुनाई दी। वे लोग जंगल के रक्षक थे। घबरा कर शिकारी ने जल्दी आस-पास से घास बटोर कर मृत हंसिनी पर डाल दी। स्वयं झाड़ियों में छिप गया।'

ऋषि सोमदेव क्षण-भर के लिए चुप हो गए।

राजा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—'इसके बाद क्या हुआ, ऋषिवर?'

—'हुआ क्या! रक्षक जब आगे निकल गए, तो शिकारी घास में से हंसिनी को उठाने के लिए बढ़ा। किंतु यह क्या! हंसिनी वहां थी ही नहीं।'—ऋषि ने कहा।

—'हंसिनी कहां चली गई?' रानी केतकी ने आश्चर्य प्रकट किया।

सोमदेव बोले—'यह आश्चर्य की बात नहीं। जिस घास से शिकारी ने हंसिनी को ढका था, वह मृत-संजीवनी औषधि थी। उसके प्रभाव से वह जीवित होकर उड़ गई थी।'

—'और इस प्रकार हंस-हंसिनी फिर मिल गए।'—रानी केतकी ने हर्ष प्रकट किया।

—'नहीं, ऐसा नहीं हुआ!'—ऋषि सोमदेव बोले—'धरती पर निर्दयी लोगों की कमी नहीं। हंसिनी के वियोग में हंस एक सरोवर के किनारे जा बैठा। वहां एक धीवर ने जाल डाल कर उसे बंदी बना लिया।'

राजा हर्षोदय ने कहा—'दुख आता है, तो एक पर एक आता ही चला जाता है।'

ऋषि सोमदेव बोले—'विलाप करती हुई हंसिनी उड़ रही थी कि उसकी दृष्टि धीवर के जाल में फंसे हुए अपने हंस पर पड़ी। वह सोचने लगी—अब क्या किया जाए?—तभी उसने देखा कि सरोवर में एक व्यक्ति स्नान कर रहा है। तट पर कपड़ों के ऊपर उसकी मोतियों की माला रखी हुई थी। बस, उसे उपाय सूझ गया। वह धीरे-धीरे उड़ती हुई नीचे आई। उसने चुपके से माला को अपनी चोंच में ले लिया। फिर इस प्रकार उड़ने लगी कि धीवर ने माला को देख लिया। बस, अब *क्या था!* धीवर के मन में लालच जाग उठा। वह जाल छोड़ कर मोतियों की माला के लिए हंसिनी के पीछे-पीछे दौड़ने लगा। हंसिनी उसे दौड़ाती रही। वह माला को पहाड़ी के शिखर पर रख आई। उधर धीवर चोटी की ओर चला। इधर हंसिनी सरोवर-तट की ओर लौटी। तट के पास ही एक बंदर सोया हुआ था। हंसिनी तेजी से आई। उसने बंदर की पीठ पर अपनी चोंच मार दी। पीठ पर चोट लगनी थी कि बंदर तिलमिला उठा। उसने गुस्से में इधर-उधर देखा। सामने उसे धीवर का जाल नजर आया। बस, उसने जाल उखाड़ फेंका।'

—'और जैसे ही जाल उखड़ा, हंस मुक्त हो गया।'—प्रसन्नता से रानी केतकी ने कहा।

—'हां, और हंस-हंसिनी एक-दूसरे से फिर मिल गए।' ऋषि सोमदेव बोले।

—'धीवर का क्या हुआ?'—रानी केतकी ने प्रश्न किया।

—'धीवर के साथ बड़ा बुरा हुआ। सदा याद रखना, जो बुरा करता है, उसका बुरा ही होता

है।'—ऋषि सोमदेव बोले—'माया मिली, न राम। वह शिखर से माला लेकर आ रहा था। तभी स्नान करने के बाद माला खोजते हुए व्यक्ति ने उसे पकड़ लिया। माला छीन ली और क्रोध में पीट-पीट कर धीवर का कचूमर निकाल दिया।'

—'फिर?'—रानी ने पूछा।

—'हंस-हंसिनी सुखपूर्वक रहने लगे। एक दिन की बात है। उन्होंने एक ताल से नाल सहित कमल का बड़ा-सा फूल तोड़ा। दोनों मिलकर उसे छतरी की तरह पकड़ कर आकाश में उड़ चले। लगता था, जैसे दो देवदूत उड़े जा रहे हों। वे बड़े खुश थे, लेकिन एक व्याध से उनकी खुशी न देखी गई। उसने उन पर बाण चला दिया। किंतु, हंस-हंसिनी इस बार संकट से बच गए। बाण उन पर नहीं, कमल के फूल पर लगा। बाण से फूल टुकड़े-टुकड़े हो, ठीक उस स्थान पर गिरा, जहां एक तपस्वी ध्यानमग्न थे। कुछ देर में तपस्वी ने आंखें खोलीं, तो अपने चरणों पर कमल की पंखुड़ियों को पड़े देखा। उन्होंने नेत्र मूंदे, तो सहसा सारा दृश्य उनके सामने साकार हो उठा। तपस्वी ने मन ही मन तीर चलाने वाले व्याध को शाप दिया कि उस पर भी कोई कभी इसी तरह तीर चलाएगा। हंस-हंसिनी को अगले जन्म में राजा-रानी बनने का वरदान दे दिया।'

ऋषि सोमदेव कुछ रुक कर बोले—'देखा, राजन! हंसिनी को मारने वाले शिकारी को अपनी जान बचाने के लिए छिपना पड़ा। हंस को जाल में बंदी बनाने वाले धीवर को पीट-पीट कर अधमरा कर दिया गया। हंस-हंसिनी पर तीर चलाने वाले व्याध को तपस्वी ने शाप दे दिया। दूसरों को दुख देने और अत्याचार करने वालों को ऐसे ही फल भोगने पड़ते हैं।'

राजा हर्षोदय गंभीर होकर आकाश की ओर देखने लगे। उन्हें अपनी प्रजा के दुख और कष्टों का खयाल आया।

तभी ऋषि सोमदेव ने कहा—'यदि तुम पूर्वजन्म में विश्वास करते हो, तो समझ लो, हंस-हंसिनी तुम्हीं थे।'

—'और यदि हम विश्वास न करें तो?'

—'तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता। तुम्हें राजा-रानी बन कर राज-काज करने का अवसर मिला है। यही अपने-आप में बड़ी बात है। लेकिन, तुम इस अवसर का समुचित लाभ नहीं उठा रहे हो। इसी कारण तुम दुखी हो। इससे मुक्ति तभी संभव है, जब प्रजा को सुखी रखोगे। दूसरों के कष्टों को जानो। उन्हें दूर करो। बेईमान और बुरे लोगों को दंड दो।'

राजा का संशय मिट गया। उन्होंने उठते हुए ऋषि सोमदेव से कहा—'ऋषिवर, हम आजीवन आपके आभारी होंगे। आपने हमारी आंखों के आगे छाया अंधकार दूर कर दिया।'

ऋषि सोमदेव बोले—'राजन, अंधकार आंखों के आगे नहीं होता। मन में होता है। इसीलिए मैंने तुमसे आरंभ में ही कहा था, अपने मन के अंधकार को दूर करो।'

—'हम आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करेंगे।'—राजा हर्षोदय और रानी केतकी ने एक साथ कहा। फिर आशीर्वाद ले, प्रजा की सेवा का संकल्प कर, वे राजधानी लौट गए। ❖

---

हर व्यक्ति को आत्मप्रेम होता है। इसलिए उसकी पाशविक वृत्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों से झगड़ा करने के लिए प्रेरित करती रहती है। लेकिन, मानव में सहानुभूति तथा परस्पर सहायता करने की उच्च वृत्तियां भी होती हैं। जिन लोगों में इस उच्च नैतिक शक्ति की कमी होती है और एक-दूसरे के प्रति भाईचारे का निर्वाह नहीं कर पाते, उन्हें या तो विलुप्त हो जाना चाहिए या फिर उन्हें इस ह्रासशील अवस्था में ही रहना होगा। वही लोग उत्तरजीवी होते हैं और सभ्यता का फल चखते हैं, जिनमें सहयोग की भावना प्रबल होती है। अतः हम जानते हैं कि इतिहास के आरंभ से ही लोगों को एक-दूसरे से झगड़ने अथवा सहयोग करने, अपने स्वार्थ को साधने अथवा सभी के समान हितों के बीच चुनाव करते रहना पड़ा है।

**—रवींद्रनाथ टैगोर**

# क्रियाशील सदस्यों से ही सजीव रहता है समाज

## अभिसिंचन के लिए नियोजन हो शक्ति का

# मूल्यहीनता के इस दौर में मर्यादाओं की दुनिया-भर को आवश्यकता

❑

तेरापंथ संघ का 143 वां मर्यादा महोत्सव 23-25 जनवरी, 2007 को गंगाशहर में आचार्य तुलसी समाधि-स्थल के परिसर में संपन्न हुआ। तीन दिन के इस महोत्सव के शुभारंभ पर अपने पहले मंगल उद्‌बोधन में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि—**कोई भी समाज तभी तक सजीव रह पाता है जब तक उसके सदस्य क्रियाशील रहते हैं।** इसी के साथ उन्होंने उपस्थित जनमेदिनी और साधु-समाज का आह्वान किया कि **संगठन के अभिसिंचन के लिए हम अपनी शक्ति का नियोजन करते रहें।** आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने माना कि तेरापंथ धर्मसंघ एक प्राणवान संगठन है, तथापि इसके विकास और प्रगति के लिए सभी को सचेष्ट रहने की जरूरत है।

### 23 जनवरी मूल्यांकन का दिन

मर्यादा महोत्सव का पहला रोज वसंत पंचमी का दिन था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसे मूल्यांकन का दिवस माना।

उन्होंने कहा कि तेरापंथ एक नेतृत्व वाला संगठन है, पर इसके विकास में साधु-साध्वियों के साथ-साथ श्रावक-श्राविकाओं का भी बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने कहा कि संघ को चिरजीवी बनाने के प्रमुख लक्ष्य को सामने रखते हुए स्वार्थ की मनोवृत्ति का परित्याग और सामुदायिक चेतना के विकास की ओर अग्रसर होना जरूरी है।

कार्यक्रम का शुभारंभ युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के मंगल मंत्रोच्चारण के साथ हुआ। इसी के साथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस **मर्यादा-पत्र** की विधिवत स्थापना की जिसे **आचार्यश्री भिक्षु** ने अपने हाथों से लिखा था। यही पत्र मर्यादा महोत्सव का प्रमुख आधार है। मर्यादा-पत्र की विधिवत स्थापना करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि—**यह पत्र समूचे संघ का प्राण बना हुआ है।**

मर्यादा-पत्र की स्थापना के साथ ही मुनि दिनेशकुमारजी ने मर्यादा-गीत का संगान किया। तेरापंथ महिला मंडल, गंगाशहर की ओर से भी समूह गान प्रस्तुत किया गया, वहीं मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति से जुड़े श्री आसकरण पारख ने भी अपने विचार रखे।

तेरापंथ के साधु-साध्वीवृंद के लिए संचालित होने वाले **सेवा-केंद्रों** पर की जाने वाली नियुक्ति के लिए मुनिवृंद की ओर से **शासनगौरव मुनि ताराचंदजी** और साध्वीवृंद की ओर से **साध्वी कनकश्रीजी** ने प्रार्थना की। सेवा-केंद्रों पर प्रभारी व साधु-साध्वियों की नियुक्ति की घोषणा करने से पूर्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसकी महत्ता प्रतिपादित की और बताया कि विक्रम संवत् 2020 में प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए तीन वर्ष की सेवा अनिवार्य कर दी गई थी। उन्होंने खुशी प्रकट की कि हमारे साधु-साध्वीवृंद सेवा-केंद्रों पर नियुक्ति के लिए लालायित रहते हैं। वृद्ध साधु-साध्वियां इन सेवा-केंद्रों पर प्रवास करते हैं। वर्तमान में साध्वियों के लिए पांच सेवा-केंद्र और मुनिवृंद के लिए तीन सेवा-केंद्र कार्यशील हैं। आचार्यश्री ने सेवा-केंद्रों पर नियुक्ति की घोषणा की। लाडनूं सेवा-केंद्र पर साध्वी कंचनप्रभाजी, बीदासर सेवा-केंद्र पर साध्वी कुंदनरेखाजी, डूंगरगढ़ सेवा-केंद्र पर साध्वी मधुस्मिताजी, राजलदेसर सेवा-केंद्र पर साध्वी रतनश्रीजी (श्रीडूंगरगढ़) और गंगाशहर सेवा-केंद्र पर साध्वी सोमलताजी की घोषणा की गई। मुनिवृंदों में छापर सेवा-केंद्र पर मुनि सुखलालजी, लाडनूं सेवा-केंद्र पर मुनि ताराचंदजी और सुजानगढ़ सेवा-केंद्र पर मुनि

राजकरणजी की नियुक्ति की घोषणा की गई।

पहले रोज के कार्यक्रम में मुनि विजयकुमारजी ने गीत प्रस्तुत किया, वहीं साध्वी समताश्रीजी ने मर्यादाओं के संदर्भ में अपने विचार रखे। साध्वी जयविभाजी व अन्य साध्वीगणों ने सेवा की भावना से ओत-प्रोत गीत प्रस्तुत किया। इस अवसर पर उपस्थित संसद सदस्य डॉ. कर्णसिंह यादव और राजस्थान गो-सेवा आयोग के अध्यक्ष श्री भंवरलाल कोठारी ने भी अपने विचार रखे।

## संबोधन अलंकरण

पहले रोज के कार्यक्रम का एक मुख्य आकर्षण आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से वर्ष-भर में घोषित अलंकरणों के अर्पण का होता है। वर्ष-भर में जिन श्रावक-श्राविकाओं की सेवाओं व उल्लेखनीय कार्यों के आधार पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी समय-समय पर संबोधनों की जो घोषणा करते हैं, उनको **जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा** इस मौके पर अलंकरण-पट्टिका अर्पित कर सम्मानित करती है।

महासभा के अध्यक्ष **श्री राजकरण सिरोहिया** ने अलंकरण समारोह के बारे में रोशनी डालते हुए बताया कि **शासनसेवी, दृढ़धर्मी, तपोनिष्ठ, श्रद्धानिष्ठ, श्रद्धा की प्रतिमूर्ति, कल्याण मित्र** और **सेवानिष्ठ** आदि संबोधनों से विगत वर्ष में **दो सौ आठ** श्रावक-श्राविकाओं की घोषणा आचार्यवर ने की है। महासभा की ओर से इन सभी को सम्मान-पत्र अर्पित किए गए। इस अलंकरण समारोह का संचालन श्री भंवरलाल सिंघवी ने किया।

मुनि सुमेरमलजी 'लाडनूं' द्वारा लिखित **महासभा का इतिहास** ग्रंथ का लोकार्पण भी इसी अवसर पर हुआ। मुनि सुमेरमलजी व मुनि उदितकुमारजी ने ग्रंथ की प्रतियां आचार्यवर व युवाचार्यश्री को अर्पित कीं।

इस मौके पर जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के विभिन्न कार्य-कलापों का जिक्र करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि धर्मसंघ की सेवा में महासभा का बड़ा योगदान है।

**महासभा का इतिहास** ग्रंथ पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि महासभा का इतिहास तो योगी की जटा है, जिसे सुलझाने का काम ग्रंथ के लेखकों ने मनोयोग से किया है। इस मौके पर **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने अपने उद्बोधन में सेवा की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा कि जिनको संबोधन अलंकरण मिला और सेवा-केंद्रों पर जिनकी नियुक्ति हुई है, उससे उनका दायित्व बढ़ा है। इसी के साथ युवाचार्यश्री ने उपस्थित जनमेदिनी को सचेत भी किया कि जिन्हें संबोधन अलंकरण नहीं मिला, वे इसकी कभी लालसा नहीं रखें। पर, अपने मनोबल, कृतित्व और कार्यनिष्ठा के प्रति सजग रहते हुए अग्रसर हों।

मर्यादा महोत्सव के प्रमुख कार्यक्रम का संयोजन मुनि मोहजीतकुमारजी ने किया और संगान के साथ पहले रोज का कार्यक्रम संपन्न हो गया।

## 24 जनवरी; आचार्य पदाभिषेक दिवस

मर्यादा महोत्सव का दूसरा दिन **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पदाभिषेक** का दिन है। माघ शुक्ला छठ के रोज ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस पद पर आरूढ़ हुए थे। तभी से मर्यादा महोत्सव के एक प्रमुख कार्यक्रम के रूप में पदाभिरोहण दिवस आयोजित होता है। मर्यादा महोत्सव से जुड़ जाने के कारण इसकी महत्ता द्विगुणित हो गई है।

यूं तो सूर्योदय के साथ ही **पदाभिषेक दिवस** पर मंगलभावों का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक ओर **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** मुनिवृंदों के साथ तो दूसरी ओर **साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** अपने साध्वीवृंद, समणियों और मुमुक्षु बहिनों के धवल लश्कर के साथ सूर्योदय होते ही अपनी भावनाएं प्रकट करने के लिए आचार्यश्री के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। श्रावक-श्राविकाओं का विशाल समूह भी समुपस्थित होता है और सभी की ओर से **पदाभिषेक मंगल दिवस** पर एक ही स्वर फूटता है कि आचार्यवर अनवरत संघ का नेतृत्व करते रहें।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की वाणी से तो एक ही स्वर फूटता है—**क्रोड़ दिवाली राज करें और हम आपकी चित्त समाधि में निमित्तभूत बन सकें।**

इस प्रातःकालीन मनोभावनाओं का क्रम आयोजन स्थल पर शुरू हुए कार्यक्रम में व्यापक स्तर पर दिखाई दिया। **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने कार्यक्रम की शुरुआत मंगल मंत्रोच्चार के साथ की। इसी के साथ **पदाभिषेक-पर्व** पर मंगल भावनाएं प्रकट करने की झड़ी लग गई।

मुमुक्षु बहिनों ने जहां सुमधुर गीत प्रस्तुत किया, वहीं **जैन विश्व भारती** के अध्यक्ष **श्री सुरेन्द्र चौरड़िया** ने अपनी भावाभिव्यक्ति मन के गहरे तल से प्रकट की। मर्यादा

महोत्सव व्यवस्था समिति के **सर्वश्री टोडरमल लालाणी, आसकरण पारख, धर्मेन्द्र डाकलिया** ने भी अपनी भावनाएं प्रकट की। कन्यामंडल, साध्वीवृंद, समणीवृंद, मुनिवृंद आदि ने भी अपनी भावाभिव्यक्ति प्रस्तुत की। युवा संतों ने भी अभिवंदना गीत पेश किया। **साध्वी परमयशाजी, विनम्रयशाजी, मुदितयशाजी, समणी कुसुमप्रज्ञाजी, मुनि राजकरणजी, मुनि सुखलालजी, मुनि दीपकुमारजी, साध्वी चंद्रलेखाजी, मुनि अक्षयप्रकाशजी, मुनि नयकुमारजी, समणी नियोजिका मधुरप्रज्ञाजी, साध्वी मधुस्मिताजी, मुमुक्षु शांता जैन** व **श्री किरण नाहटा** ने भी अपनी भावनाएं प्रकट कीं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथ महासभा के महामंत्री **श्री तरुण सेठिया** ने भी अपने श्रद्धासिक्त विचार प्रकट किए। इस मौके पर स्वर्गीय पंडित अक्षयचंद्र शर्मा की संगृहीत पुस्तकों को आचार्य तुलसी शांति प्रतिष्ठान को भेंट करने की इच्छा उनके पुत्र श्री अशोक शर्मा ने प्रकट की। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने स्व. अक्षयचंद्र शर्मा के साथ रहे संपर्कों का स्मरण किया।

इस अवसर पर उपस्थित **डॉ. चंद्रशेखर बैद** (विधायक, तारानगर) ने भी अपनी भावनाएं प्रकट कीं और संकल्प दोहराया कि समाजसेवा के लिए उनकी निष्ठा अनवरत बनी रहेगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस पर टिप्पणी करते हुए **श्री चंदनमल बैद** (पूर्वमंत्री) का उल्लेख किया और कहा कि बैदजी ने अगली पीढ़ी को काम करने के लिए तैयार कर दिया है।

**साध्वी विश्रुतविभाजी** (मुख्य नियोजिका) ने भी अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा कि आचार्यप्रवर स्तुति नहीं, प्रस्तुति चाहते हैं। इस मौके पर प्रकाशित पुस्तक **महाप्रज्ञ ने कहा**-21 की एक प्रति आचार्यवर के कर-कमलों में अर्पित की गई। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसा यात्रा के संदर्भ में संपादित हो रही पुस्तकों के लिए **साध्वी विश्रुतविभाजी** और **साध्वी विमलप्रज्ञाजी** के श्रम को निष्ठापूर्वक किया जाने वाला काम बताया और कहा कि इसमें **मुनि धनंजयकुमारजी** का सहयोग भी अनुमोदनीय है।

पदाभिषेक दिवस पर अपनी प्रतिक्रिया **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कुछ इस तरह प्रकट की—'बहुत चिंतन के बाद भी आज तक यह निर्णय नहीं हो पाया कि तेरापंथ की स्थापना किसी ज्योतिषी ने मुहूर्त देखकर की या अपने-आप हो गई? कहा जा सकता है कि तेरापंथ पर सभी ग्रह अपनी पवित्र रश्मियां डाल रहे हैं। इसी कारण से धर्मसंघ प्रगति कर रहा है। भगवान महावीर की 2500वीं निर्वाण-तिथि पर किसी ज्योतिषी ने कहा था कि तेरापंथ की स्थापना का मुहूर्त इतना उत्तम है कि दो हजार वर्ष तक इसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। शुभ मुहूर्त और शुभ वेला में सारा कार्यक्रम चल रहा है।'

अपने साधना-काल के प्रारंभिक समय को याद करते हुए **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने अपने दीक्षागुरु **आचार्यश्री कालुगणि** और अपने शिक्षागुरु **आचार्यश्री तुलसीगणि** का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया। उन्होंने कहा कि 'मुझे अनुभव होता है कि मैं कोई सद्भाग्य लेकर आया कि इन महापुरुषों का वरदहस्त मेरे सिर पर टिका। तेरापंथ को देखता हूं तो अपने-आप पर गर्व होता है।' उन्होंने कहा कि **मैं अपनी असांप्रदायिक चेतना के आधार पर कह सकता हूं कि ऐसा विनीत, समर्पित, योग्य और प्रबुद्ध शिष्य समुदाय मिलना एक दुर्लभ बात है।** योग्य व्यक्तियों की एक पूरी शृंखला इस धर्मसंघ में है। युवाचार्य, साध्वीप्रमुखा, मुख्य नियोजिका—ये सब मुझ से भिन्न नहीं हैं! हमारे साधु-साध्वियों और समणियों की प्रबुद्धता आज शिखर छू रही है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि साधु होना या आचार्य का पद मिल जाना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अहिंसक चेतना के प्रति जागरूकता। तेरापंथ के विकास का आधार उसकी आचार शक्ति है। उन्होंने बताया कि जब आचार्यश्री भिक्षु से पूछा गया कि आपका धर्मसंघ कब तक चलेगा? उत्तर था—**जब तक हमारे साधु-साध्वियां मर्यादा और आचार का शुद्ध पालन करेंगे, परिग्रहमुक्त रहेंगे।**

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस मौके पर साधु-साध्वियों के योगदान का विशेष उल्लेख किया। साथ ही श्रावक समाज की विनम्रता और समर्पण की भी सराहना की।

इसी के साथ उन्होंने सचेत भी किया कि हम सभी का यह दायित्व है कि ऐसे संस्कारों का निर्माण करें कि जिससे हमारा भविष्य उज्ज्वल बना रहे।

इस मौके पर **मुनि पूर्णानंदजी को शासनश्री संबोधन** से अलंकृत किया गया। इसी अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के कार्यों का

मूल्यांकन इन शब्दों में किया—'महाश्रमण साथ न रहे तो जो करता हूं वह पचास प्रतिशत कठिन हो जाए।' इसी तरह साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के प्रति आचार्यश्री की भावना इन शब्दों में प्रकट हुई—'साध्वीप्रमुखा संघ की महान सेतु हैं'। इस मौके पर गुरुदेवश्री तुलसी के एक संदेश की पंक्तियों को भी उपस्थित जनमेदिनी के सामने उद्धृत किया गया। जिसमें कहा गया है—'शुभ भविष्य है सामने।'

**25 जनवरी; मुख्य कार्यक्रम**

आचार्य तुलसी समाधि-स्थल परिसर में बने विशाल **मर्यादा समवसरण** में इस रोज चारों ओर जनसमूह ही जनसमूह नजर आ रहा था। दिन के ठीक 12.30 बजे **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** के महामंत्रोच्चार के साथ मर्यादा महोत्सव का मुख्य कार्यक्रम शुरू हुआ। लगातार 143 वर्षों से **माघ शुक्ला सप्तमी** को ही इसके होने से आमजन इसे **माघ महोत्सव** भी कहते हैं।

समणीवृंद की ओर से प्रस्तुत **भिक्षु अष्टकम** के संगान के साथ ही मर्यादा-समवसरण का समूचा वातावरण भिक्षुमय हो गया। **मुनि सुमेरमलजी 'लाडनूं', मुनि राकेशकुमारजी, मुनि महेंद्रकुमारजी,** और **शासनगौरव साध्वी राजीमतीजी** ने मर्यादा तथा अनुशासन पर अपने विचार रखे। **जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय** की **कुलपति समणी डॉ. मंगलप्रज्ञाजी** ने मर्यादा महोत्सव की महत्ता के साथ विश्वविद्यालय की गतिविधियों के बारे में भी जानकारी दी।

इस मौके पर प्रकाशित कृतियों का लोकार्पण भी हुआ। **मुनि रजनीश कुमारजी** ने अपनी कृति **जय प्रश्न निर्झर** तथा **साध्वी परमयशाजी ने आचार्य महाप्रज्ञ का नैतिक दर्शन** पुस्तकें अर्पित कीं। **साध्वी जतनकुमारीजी 'कनिष्ठा'** की शोधकृति **आलोक यात्रा** की प्रति श्री पी.सी. सिंगला ने और **जय तिथि पत्रक** की प्रति **श्री सुरेंद्र चौरड़िया** ने अर्पित की।

साध्वीवृंद की ओर से एक भावपूर्ण गीत प्रस्तुत किया गया। आचार्यवर ने इनके प्रोत्साहन स्वरूप सभी को इकतालीस कल्याणक प्रदान किये। मुनिवृंद ने **जय-जय शासन जय मर्यादा** गीत का संगान किया। प्रस्तुतिकरण नेतृत्वकर्ता और गीत के रचनाकार **मुनि दिनेशकुमारजी** का विशेष उल्लेख करते हुए दो वर्ष तक 'शीतकालीन समुच्चय' के कार्यों की बख्शीश दी तथा इस सामूहिक गीत के संगायक मुनियों को भी इकतालीस कल्याणक प्रदान किए। इसी क्रम में **मुनि मोहजीतकुमारजी** को भी मंच संचालन की दीर्घकालीन सेवाओं के लिए दो वर्ष तक 'शीतकालीन समुच्चय' के कार्यों की बख्शीश दी।

मुख्य नियोजिका **साध्वी विश्रुतविभाजी** ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व और कृर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आज हर वर्ग में आचार्यवर के प्रति गहरा सम्मान नजर आता है। लगता है कि आचार्यवर की साधना अब सिद्धि के मुकाम तक आ पहुंची है और शीर्ष पर बैठे हर वर्ग के लोगों के लिए आप प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं।

**साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** ने अपने मार्मिक और ओजपूर्ण वक्तव्य से जन-जन को आप्लावित किया। इनके वक्तव्य के कुछ बिंदुओं ने विचारशील लोगों के लिए जहां सोच-विचार के बिंदु प्रस्तुत किए, वहीं दूसरी ओर श्रद्धा और समर्पण के भावों को दृढ़ता प्रदान करने वाले विचार भी सामने आए। स्वामी रामकृष्ण और उनके शिष्य नरेंद्र का उदाहरण देते हुए साध्वीप्रमुखाजी ने आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व व कृर्तृत्व की चर्चा की और बताया कि किस प्रकार भगवान महावीर के **अहिंसा दर्शन** तथा तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के **मर्यादा दर्शन** को आधार बनाकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी निरंतर अग्रसर हो रहे हैं। जीवन के नौवें दशक में आपकी सक्रियता से आपके कृर्तृत्व की धार उसी तरह तेज हो रही है जिस तरह सूत्रकृतांग के इस पद से प्रकट हो रहा है—

**बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,**
**आत्मोपलब्धिः शिव सौख्य सिद्धिः।**
**चिन्तामणिं चिंतित वस्तुदाने,**
**त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देव।।**

साध्वीप्रमुखाजी ने कहा कि मूल्यहीनता के इस दौर में आज मर्यादाओं की दुनियाभर को आवश्यकता है। उन्होंने महाभारत के एक प्रसंग का स्मरण करते हुए कहा कि तेरापंथ इसलिए विलक्षण और विकासशील संघ है कि इसके अनुयायियों में एक गुरु, अनुशासन, परस्परता, सापेक्षता और एकरूपता के प्रति रोम-रोम में आस्था बसी हुई है। उन्होंने माना कि मर्यादा से आस्था पुष्ट होती है और विकास के द्वार स्वतः खुल जाते हैं।

आचार्यश्री भिक्षु को क्रांतिकारी आचार्य के रूप में स्मरण करते हुए उन्होंने कहा कि सत्य और सिद्धांतों से समझौता उन्हें स्वीकार नहीं था। उनका मानना था कि मूल्यों के प्रति खामोशी एक बड़ा संकट है और तेरापंथ संघ इस ओर निरंतर सचेत है। वही संघ फलता-फूलता है जहां मर्यादा और गुरु-आज्ञा को प्राणों से भी अधिक मूल्य मिलता है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने मर्यादा महोत्सव के तीनों दिनों की महत्ता को अलग-अलग रूप में प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम सेवा के प्रसंग पर अपना मत रखा। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की कि उन्हें भी सेवा का अवसर दिया जाए। उन्होंने कहा कि—**अभी मैं युवा हूं और आपकी कृपा से पूरी तरह सक्षम हूं, इसलिए अन्य साधु-साध्वियों की तरह यह अवसर मुझे भी मिलना चाहिए।** इस पर आचार्यवर ने एक भावपूर्ण टिप्पणी की और कहा कि—**तुम्हारे ऊपर आजीवन संघ-सेवा का दायित्व है।** इसी क्रम में जब युवाचार्यश्री ने यात्रा के समय साथ चलते हुए **साधन** चलाने की प्रार्थना की और कहा कि कुछ तो निर्जरा का लाभ मुझे मिले, तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जनमेदिनी की ओर इंगित करते हुए कहा—**महाश्रमण शासन के रथ को अच्छी तरह संचालित करते रहें, यह सबसे बड़ी सेवा है।** युवाचार्यश्री के वक्तव्य का यही दौर इसी तरह आगे चला। इस बार उन्होंने कहा—**मैं शारीरिक रूप से सक्षम हूं। ऐसे में खाली हाथ क्यों चलूं, कुछ बोझ-भार लेकर क्यों न चलूं?** ज्यादा-कुछ नहीं तो थोड़े-बहुत पुस्तक-पन्नों का भार उठाता हुआ चलूं।' युवाचार्यश्री के इस कथन पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—**हमारी आचार्य परंपरा से जो चला आया है, वह बोझ मैं उठा रहा हूं और तुम्हें भी उठाना है। इसके लिए तुम अपने कंधों को मजबूत रखो और यह कामना करो कि कंधे मजबूत रहें।**

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की इन टिप्पणियों पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने कहा—**मैं इसे शुभाशिष के रूप में स्वीकार करता हूं।**

महोत्सव के दूसरे दिन की महत्ता **आचार्य पदारोहण दिवस** के रूप में है। इसे इंगित करते हुए युवाचार्यश्री ने कहा कि 'गुरुदेव ने एक बात कही कि मुझे अब जन्म-दिन मनाना अच्छा नहीं लगता, पाटोत्सव की बात मान्य हो सकती है।' युवाचार्यश्री के इस कथन पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि—'जन्म-दिन मनाने की बात मुझे तो नहीं जंचती। आयोजनपूर्वक जन्म-दिन मनाने का कोई उपक्रम नहीं होना चाहिए। अगर मनाएं तो केवल ध्यान, स्वाध्याय और संकल्प के द्वारा मनाएं।'

अपने वक्तव्य को आगे बढ़ाते हुए युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने आचार्य के तीन रूपों का जिक्र किया। पहला रूप है गुरु का—जिसके द्वारा वात्सल्य की वर्षा होती है और शिष्यों को साधना का मार्गदर्शन मिलता है। दूसरा रूप है अनुशास्ता और शासक का। जब आचार्यश्री तुलसी ने आचार्यपद का विसर्जन कर दिया तो कहने लगे—'अब मैं सिर्फ गुरु हूं शास्ता का दायित्व अब महाप्रज्ञ पर है।' युवाचार्यश्री ने कहा कि तेरापंथ का आचार्य होना बड़ी बात होती है। वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी साधु-साध्वी और इतने बड़े श्रावक समाज को सम्हाल रहे हैं। इसी के साथ साहित्य निर्माण तथा अन्यान्य प्रवृत्तियों का भगीरथ कार्य भी हो रहा है। यदि व्यवहार-कौशल को पढ़ना है तो हम आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को देखें। हमें इसके सूत्र हाथ लग जायेंगे। गुरुदेवश्री तुलसी ने एक बार कहा भी था कि महाप्रज्ञ की जीवन-शैली कितनी संतुलित और व्यवस्थित है, समय-नियोजन की यह कला तुम्हें इनसे सीखनी है। इसी दौरान युवाचार्यश्री ने गणाधिपतिश्री तुलसी के उस संदेश का वाचन किया जो फरवरी, 1997 में लाडनूं से चाड़वास भिजवाया गया था। संदेश इस प्रकार है—

मेरे परम विनीत पट्टधर शिष्य और धर्मसंघ के प्राणवान आचार्य महाप्रज्ञ!

साभिवादन अनेकशः सुख पृच्छा।

5 फरवरी 1995, वि.सं. 2053, शुक्ला षष्ठी। दिल्ली का ऐतिहासिक दिन। पदाभिषेक का भव्य समारोह। उमड़ता हुआ जनसैलाब। भीतर और बाहर अनूठा उत्साह। तेरापंथ का वह अभूतपूर्व दिन। उसके लिए 'न भूतो न भविष्यति' कहा जा सकता है। उस समारोह के दृश्य एक-एक कर आंखों के सामने आ रहे हैं। 12 फरवरी, 1997 को चाड़वास दिल्ली बन रहा है। सबका मन प्रसन्न है। मेरा मन हर्षातिरेक से आप्लावित है। इस बार मैं दूर बैठा तुम्हारे कर्तृत्व की गूंज सुन रहा हूं। तुम्हें नेतृत्व की असीम ऊंचाई पर देख रहा हूं। मुझे बार-बार कहा जा रहा है कि मैं वहां जाऊं। पर इतनी दूरी से तुम्हारी सुयश गाथा सुनकर मुझे जिस

अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव हो रहा है, उसे मैं ही जानता हूं।

महाप्रज्ञजी! तुम पर भिक्षु शासन तेरापंथ का ही दायित्व नहीं है। आज संपूर्ण धर्म-परंपरा और मानव-जाति को मार्गदर्शन की अपेक्षा है। विश्व की इन जटिल परिस्थितियों में हमें सबको पथदर्शन देना है। तुम्हारी आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी हिलोरें ले रही है। इससे पूरा धर्मसंघ रोमांचित और उल्लसित है। इस त्रिवेणी की धाराओं से समूचे संघ को अभिस्नात करना है। लिखते-लिखते मन में आता है कि यह सब किसके लिए लिख रहा हूं? जहां अद्वैत है, अभिन्नता है, उसके बारे में क्या लिखूं और क्यों लिखूं? अद्वैत की स्थिति में कुछ भी लिखना कितना कठिन है, तुम स्वयं अनुभव करते ही हो। तुम्हारे द्वारा प्रदत्त पत्र में इस सचाई का साक्षात्कार किया जा सकता है।

मैं जैन विश्वभारती के भिक्षु विहार में बैठा-बैठा आज तुम्हारे भाल पर भावात्मक तिलक लगाकर तुम्हें वर्धापित कर रहा हूं।

*चन्देसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा।*
*सागरवर गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।*

तृतीय पदाभिषेक की मंगल वेला में मेरी ओर से शुभकामनाएं स्वीकार करो।

*सुचिरं जयतात् भद्रा चिरजीवी तथा भव।*
*तेरापंथस्य संघस्य भद्रं भूयान् निरंतरं।।*

8-2-97 —**गणाधिपति तुलसी**
जैन विश्वभारती, लाडनूं

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने पुनः कामना की कि आप लंबे काल तक हम शिष्यों को अपनी अनुशासना और दिशा-निर्देश प्रदान करते रहें। आपके पवित्र साए में हम लोग फलते-फूलते रहें, विकास करते रहें, मानव-जाति की सेवा करते रहें, जितना भी हो सके, अधिकाधिक आपको विश्राम और सहयोग उपलब्ध कराते रहें। आपकी चित्त समाधि में निमित्तभूत बन सकें—यह हमारी मंगलकामना है।

मर्यादा महोत्सव के तीसरे और मुख्य पक्ष पर आते हुए युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने कहा कि—**उसी संगठन के विकास का पथ प्रशस्त होता है जिसमें अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा के प्रति जागरूकता रहती है।** इसी क्रम में उन्होंने बताया कि तेरापंथ का एक 'मैन्युअल' तैयार किया जा रहा है, जो कार्तिक शुक्ला द्वितीया, गुरुदेवश्री तुलसी के जन्म-दिन पर घोषित होने की आशा है। इसका नाम है **अनुशासन संहिता**। साधु-साध्वियां इसका अध्ययन करें और इस पर अपनी राय प्रकट करें।

इसी बीच आचार्यप्रवर ने हस्तक्षेप करते हुए कहा कि—'अब **संहिता** साधु-साध्वियों के बीच में आ गई है। इसकी समीक्षा भी हुई है और आज से यह लागू हो रही है। मैं इसकी घोषणा करता हूं।'

युवाचार्यश्री महश्रमणजी ने कहा कि अनुशासन के प्रसंग पर सारी व्यवस्थाएं इसलिए हैं कि उज्ज्वलता अधिकाधिक बढ़े, संघ का हर सदस्य जागरूक रहे। हम अपने जीवन में मर्यादा और व्यवस्था को प्रथम स्थान देने का संकल्प लें, आज के दिन का यही महत्त्व है।

मर्यादा महोत्सव के मुख्य उद्बोधन में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सर्वप्रथम मर्यादा पत्र का पुनः उल्लेख किया। उन्होंने कहा—'आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाएं अविच्छिन्न रूप से आज तक चली आ रही हैं। उनकी व्यवस्था से एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ है।'

एक आचार्य की परंपरा को सुरक्षित मानते हुए नव-निर्मित **अनुशासन संहिता** का आचार्यप्रवर ने जिक्र किया और कहा कि युवाचार्य, साध्वीप्रमुखा, मुख्य नियोजक आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। युवाचार्य और आचार्य तो अभिन्न ही होते हैं। उन्होंने कहा कि मुख्य नियोजक की हमारी योजना है, जिसे समय आने पर क्रियान्वित किया जाएगा। जबकि मुख्य नियोजिका का कार्य साध्वीप्रमुखा को सहयोग करना है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि हमारी एक कल्पना यह भी है कि एक **बहुश्रुत परिषद** का गठन किया जाए, जो तात्त्विक सिद्धांतों और प्रमुख विषयों पर अपनी सम्मति दे और आचार्य का इस संदर्भ में सहयोग करे। उन्होंने **शासनगौरव** संतों के दायित्वों का भी खुलासा किया और कहा कि वे आचार्य और युवाचार्य को अपना परामर्श देते रहें। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने **अग्रणी** संतों और **सिंघाड़ो** का जिक्र करते हुए कहा कि बहिर्विहार में आचार्य का प्रतिनिधित्व ये ही करते हैं। जयाचार्यश्री के कथन का उल्लेख करते हुए—'अगवाणी बणनै की हूंस कोई मत

राखो'—सचेत भी कर दिया कि अग्रणी बनकर कैसे काम किया जाए और कठिनाई का अनुभव हो तो पद का विसर्जन कर दिया जाए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संघ की सुव्यवस्था के लिए मर्यादा-पत्र का पुनः उल्लेख किया और पांच मौलिक मर्यादाओं को सामने रखा। ये हैं—

1. **सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।**
2. **विहार-चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।**
3. **अपना-अपना शिष्य-शिष्या न बनाएं।**
4. **आचार्य योग्य व्यक्ति को दीक्षित करें। दीक्षित करने पर अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें।**
5. **आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुनें, उसे सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।**

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने पुनः कहा कि **आज मर्यादा महोत्सव के दिन आचार्यश्री भिक्षु द्वारा लिखित उन मर्यादाओं के प्रति अपनी अनंत आस्था व्यक्त करते हैं और संकल्प करते हैं कि अपनी संघनिष्ठा और आचारनिष्ठा को प्रवृद्धमान करते रहेंगे।**

आज के कार्यक्रम का एक अन्य आकर्षक बिंदु **बड़ी-हाजरी** था। साधु-साध्वियों, समणीगणों ने वरीयता क्रम से जब पूरे परिसर में पंक्ति बनाई तो लगा कि श्वेत-धवल पंक्ति के इस घेरे का विच्छेदन कोई शक्ति नहीं कर सकती। ऐसी मजबूत रक्षापंक्ति में सब सुरक्षित महसूस करते रहें। पंक्तिबद्ध होकर संपूर्ण श्वेत-धवल समूह ने मर्यादाओं को सस्वर उच्चारित किया। लगा कि जैसे इससे संपूर्ण परिसर साधना, शक्ति और आस्था से आप्लावित हो उठा है। इसी अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा रचित **143वें मर्यादा महोत्सव गीत** का सस्वर संगान हुआ। गीत के बोल और स्वरों की अनुगूंज ने उपस्थित जनसमूह को झंकृत कर डाला।

इस तरह तीन दिन का 143वां मर्यादा महोत्सव श्रद्धा, आस्था और सौजन्यता की गहरी छाप के साथ संपन्न हुआ। मर्यादा महोत्सव के अवसर पर विभिन्न प्रदेशों के हजारों जन उपस्थित थे, तो कई प्रवासी भारतीय भी देखे गए। इस मर्यादा महोत्सव पर 79 संत, 361 साध्वियां, 102 समणीगण और एक समण, श्रद्धेयवरों की सन्निधि में उपस्थित थे। तीनों दिन के कार्यक्रम का संयोजन मुनि मोहजीतकुमारजी ने किया।

प्रस्तुतकर्ता

**—भवानी सोलंकी**

---


घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

**जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।**
**वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए**
**जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।**

व्यवस्थापक
**जैन भारती**
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

 पृष्ठ 40 का शेष

लाडनूं स्थित 'अभ्युदय' भवन की उपयोगिता पर अपने प्रतिवेदन में जानकारी देते हुए श्री सेठिया ने इसकी व्यवस्था से जुड़े राजकुमारजी चौपड़ा के असामयिक निधन की जानकारी दी और उनके प्रति श्रद्धांजलि प्रकट की।

इसी क्रम में लाडनूं में संघीय उपयोग के लिए भूमि अधिग्रहण की जानकारी देते हुए इस काम में सहयोगकर्ताओं और अनुदानकर्ताओं का आभार प्रकट किया गया।

महासभा की ओर से तेरापंथ जनगणना की प्रगति के बारे में भी श्री सेठिया ने जानकारी दी। इसके सहयोगकर्ताओं के प्रति आभार प्रकट किया गया। आई एस ओ : 9001; 2000 प्रमाण पत्र के बारे में जानकारी देते हुए श्री सेठिया ने बताया कि इससे महासभा की कार्यप्रणाली में सुव्यवस्था तथा गुणवत्ता आई है। उन्होंने साहित्य विक्रय केंद्र, कंप्यूटर प्रशिक्षण की बैठकों के बारे में भी जानकारी दी।

श्री तरुण सेठिया ने अपने प्रतिवेदन में पूज्यवरों के प्रति, उनके मार्गदर्शन और उनकी ओर से संप्रेषित ऊर्जा के प्रति असीम कृतज्ञता प्रकट की, वहीं महासभा प्रभारी शासनगौरव मुनि मधुकरजी, सहप्रभारी मुनि धर्मरुचिजी, ज्ञानशाला प्रकोष्ठ प्रभारी मुनि सुमेरमलजी 'लाडनूं' व मुनि उदितकुमारजी, जैन एकता प्रकोष्ठ प्रभारी मुनि सुखलालजी, मुनि महेंद्रकुमारजी, मुनि मोहजीतकुमारजी, मुनि दिनेशकुमारजी, मुनि कुमारश्रमणजी और महासभा के जागरूक प्रहरी के रूप में मुनि धनंजयकुमारजी, मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी, साध्वी कल्पलताजी तथा समणी नियोजिका अक्षयप्रज्ञाजी के प्रति भी आभार प्रकट किया। उन्होंने माना कि महासभा की आध्यात्मिक गतिविधियों के सम्यक् संचालन में इनसे मौलिक चिंतन प्राप्त होता रहा है। साथ ही महासभा भवन में चातुर्मास करने वाली साध्वी निर्वाणश्रीजी व अन्य साध्वीवृंद के प्रेरक मार्गदर्शन के लिए भी मंगलभावना प्रकट की।

अपने प्रतिवेदन में श्री सेठिया ने महासभा अध्यक्ष, निवर्तमान अध्यक्ष, कार्यकारणी समिति व ट्रस्ट मंडल सहित विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रभारीगणों, महासभा के कार्मिकों, संघीय संस्थाओं के पदाधिकारीगणों, संघीय प्रकाशनों के प्रभारियों सहित सभी के प्रति आभार दर्शाया, जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग महासभा की प्रवृत्तियों में मिला।

इसी अधिवेशन में कोषाध्यक्ष श्री प्रकाश बैद ने विगत वर्ष के आय-व्यय का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। इसी के साथ आगामी वर्ष के अंकेक्षक के रूप में मैसर्स एस.एम. डागा की पुनर्नियुक्ति की गई और उनकी सेवाओं की सराहना की गई। इस वार्षिक अधिवेशन की आतिथ्य व्यवस्था के लिए मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति के सर्वश्री टोडरमल लालाणी व लूणकरण छाजेड़ को प्रतीकचिह्न देकर सम्मानित किया गया।

इसी के साथ महासभा का 93वां अधिवेशन ओज और उत्साह के साथ संपन्न हुआ।

प्रस्तुतकर्ता

**भ. सो.**

---

## कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

*With best compliments from :*

# HTC TRADING PVT. LTD.

**16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001**

Phones : 242-6141/9857/9426/9923

Fax : 91-33-2422004

e-mail : sirohia@mail.com

## *Wholesale Distributors & Dealers in*

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

## *For Your Requirements of Spare Parts for*

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

*Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :*

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVE T
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

प्रेषण दिनांक 9 अप्रैल, 07

Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence
No. Tech.(WR)47-2/05-06/11 Valid till 31-12-2008

जैन भारती, अप्रैल, 2007

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।